बंधुवर नर्मदेश्वर चतुर्वेदी को

पुस्तक के विषय में

पुरानी बात है। उन दिनों मैं एम० ए० का विद्यार्थी था। पाठ्यक्रम में और कवियों के अतिरिक्त 'देव' भी थे। अन्य कवियों की भाँति देव पर कोई आलोचनात्मक ग्रन्थ न मिलने के कारण इन पर विशेष ध्यान देना पड़ा और इसी ध्यान देने में मुझे दीन जी की 'विहारी और देव' तथा मिश्रजी की 'देव और विहारी' पुस्तकों के पढ़ने का अवसर मिला। इन दो को पढ़ने के बाद देव में मेरी विशेष अभिरुचि हो गई और उपर्युक्त पुस्तकों, देव के प्राप्य ग्रन्थों, आचार्य शुक्ल, डा० श्यामसुन्दर दास, डा० सूर्यकांत शास्त्री तथा डा० रसाल के इतिहासों, हिन्दी-नवरत्न, देव-दर्शन, देव-सुधा तथा माधुरी और साहित्य-संदेश के कुछ लेखों को पढ़कर मैंने एक विस्तृत नोट तैयार किया। परीक्षोपरांत उस नोट की उपयोगिता समाप्त हो गई और अन्य कापियों-किताबों की भाँति वह भी सन्दूक में क़ैद हो गया।

इधर जब डा० नगेन्द्र की थीसिस प्रकाशित हुई तो उसे भी पढ़ने का अवसर मिला। पुस्तक बहुत ही पसन्द आई पर साथ ही साथ यह भी अनुभव हुआ कि थीसिस थीसिस ही है खोजों के विवादों से आपूर्ण और भारी भरकम। इसी विचार ने उस अपने नोट को बाहर निकालने की प्रेरणा दी, पर परिस्थितियों ने उसे पुनः भीतर कर दिया।

इस वर्ष जब एक मित्र को जो एम० ए० की परीक्षा दे रहे हैं देव के विषय में कुछ सहायता देने का प्रश्न आया तो फिर उस नोट को निकालना पड़ा। साथ ही उसे अपनी नई जानकारियों, डा० नगेन्द्र की 'देव और उनकी कविता', बलदेव उपाध्याय का 'भारतीय साहित्य शास्त्र', परशुराम चतुर्वेदी का 'नवनिबन्ध' तथा 'हिन्दी कविता में प्रेम प्रवाह', काणे की साहित्य दर्पण की भूमिका, डा० रसाल का 'अलङ्कार

विषय-सूची

अध्याय १

पृष्ठभूमि

देव रीतिकाल के कवि हैं। उनके जीवन तथा कला आदि पर विचार करने के पूर्व यदि उनके समय के वातावरण पर एक विहंगम दृष्टि डाल ली जाय तो उनको समझने में सरलता होगी, अतः यहाँ हम लोग रीतिकाल की ऐतिहासिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा कलात्मक दशा पर विचार करेंगे।

(क) इतिहास और राजनीति

रीतिकाल के आरम्भ में भारत का बादशाह शाहजहाँ था। दक्षिण में अहमदनगर, गोलकुंडा और बीजापुर आदि रियासतों को लेकर उत्तर में कंधार तक और पश्चिम में सिंध के लाहिरी बन्दरगाह से लेकर पूरब में सिलहट तक इसका साम्राज्य था जो २२ सूबों में बँटा था। राज्य में काफ़ी शांति, सुख और समृद्धि थी। पर, यह शांति अधिक दिन तक न रह सकी। किसी भी वस्तु के शीर्ष बिंदु पर पहुँचने के बाद ह्रास आरंभ हो जाता है। धीरे-धीरे दक्षिण में उपद्रव आरंभ हो गये। पश्चिमोत्तर सीमा पर भी बाह्य आक्रमणकारियों से मोर्चा लेना पड़ा। सं० १७१५ में शाहजहाँ बीमार पड़ा और उसके मृत्यु की अफ़वाह उड़ गई। फल यह हुआ कि शाहजहाँ के शाहज़ादों में सिंहासन के लिए युद्ध आरंभ हो गया। एक ओर औरंगज़ेब था, कट्टर सुन्नी और पक्का राजनीतिज्ञ और दूसरी ओर था दारा, ज्ञानी, धार्मिक मामलों में सहिष्णु तथा सरलचित्त। डा० नगेन्द्र ने ठीक ही कहा है कि यह संस्कृति और राजनीति का युद्ध था। अन्त में दारा की हार हुई और सं० १७१६ में औरंगज़ेब गद्दी पर बैठा। इसकी नीति इतनी बुरी थी कि शीघ्र ही चारों ओर विरोध होने लगा। राजपूत अनादर के कारण

अलग परेशान करने लगे। महाराष्ट्र में मराठों ने ज़ोर पकड़ा और अपना राज्य स्थापित करने लगे। इलाहाबाद में हरदी आदि ज़मींदारों ने, अवध के बैस राजपूतों ने तथा आगरा की ओर जाटों ने भी विद्रोह करना आरम्भ कर दिया। बुंदेले भी विरोधी हो गये। औरंगज़ेब की जज़िया लगाने तथा मंदिरों को ढहवाने की नीति ने पूरी हिंदू जनता को उसके विरुद्ध कर दिया। वह पक्का सुन्नी था, अतः शियों को भी सन्तुष्ट न रख सका। पञ्जाब में सिक्खों ने ज़ोर पकड़ा। इस प्रकार चारों ओर विद्रोह ही विद्रोह था। औरंगज़ेब को अपनी सारी शक्ति इन विद्रोहों के दमन में लगानी पड़ी। वह स्वयं अंत तक अशांत रहा और पूरे देश को अशांत किये रहा। अन्त में सम्वत् १७६४ में उसकी मृत्यु हो गई।

औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद स्थिति और भी खराब हो गई। दृढ़ व्यक्तित्व के कारण अपने जीवन काल में तो वह किसी प्रकार शासन सूत्र सँभाले रहा पर उसके बाद मुग़ल ख़ान्दान में कोई योग्य व्यक्ति न हुआ, अतः विद्रोहियों को और भी आगे बढ़ने का रास्ता मिल गया। रुहेले, बंदा बैरागी, मराठे, अँगरेज़, तथा फ़्रांसीसी सभी ने इस विकम्पित राजनीतिक स्थिति का लाभ उठाया और यह अव्यवस्था बढ़ती ही गई। नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली के नृशंस आक्रमण और भी कोढ़ की खाज हो गये। मुग़ल साम्राज्य के पतन के बाद भारत में सभी कोनों में छोटे-मोटे राज्य स्थापित हुए पर धीरे-धीरे सभी दबते और नष्ट होते गए और रीतिकाल के अन्त तक हिंदी भाषाभाषी क्षेत्र प्रायः सम्पूर्णतः अंग्रेज़ों के हाथ में आ गया।

निष्कर्ष स्वरूप रीतिकाल में देश में अव्यवस्था, विप्लव, अधःपतन और उच्छृंखलता का ही राजनीति के क्षेत्र में साम्राज्य था।

(ख) समाज

सामाजिक दशा के सम्बन्ध में अधिक सामग्री नहीं मिलती। आलोच्य-काल के विषय में भी प्रायः यही बात है। इस सम्बन्ध में जो कुछ थोड़ा मसाला मिलता है वह या तो विदेशी यात्रियों के यात्रा विवरणों से या तत्कालीन काव्य ग्रन्थों से। कुछ थोड़ी बातें फ़तवाए आलमगीरी, मुंतख़ब-उल-लुबाब, आलमगीरनामा, खुलासत-उल-तवारीख़ एवं मासिर-ए-आलमगीरी आदि से भी ज्ञात हो जाती हैं।

समाज मोटे रूप से तीन वर्गों में बँटा था। पहला वर्ग उच्च वर्ग था। इसमें बादशाह, शाही घराने के अन्य लोग, सामन्त, मनसबदार, बड़े-बड़े व्यापारी, छोटे-मोटे राजा तथा राज्य के बड़े-बड़े अफ़सर थे। ये सभी अतिशय विलासी थे। अपने आराम के लिये मुक्तहस्त से रुपया लुटाते थे। घर में स्त्रियाँ भरी रहती थीं। रीतिकालीन कविता में नायिका भेद, अष्टयाम, बारहमासा या वैभवपूर्ण भोजनों एवं सामानों का वर्णन इसी वर्ग के जीवन का प्रतिबिंब है। कंचन और कामिनी के अतिरिक्त कादम्ब से भी इस वर्ग का घनिष्ठ सम्बन्ध था। दूसरा वर्ग मध्य वर्ग था। इस वर्ग में बहुत छोटे राजा, मध्यमवर्गीय व्यापारी तथा राज्य कर्मचारी थे। इनकी दशा उच्चवर्ग से काफ़ी नीचे थी पर बहुत बुरी न थी। तीसरा वर्ग निम्न वर्ग था। जनसंख्या का अधिक भाग इसी वर्ग का था। कारीगर, मज़दूर तथा किसान इस वर्ग में प्रधान थे। यदि आधुनिक मार्क्सवाद की भाषा में कहना चाहें तो यह सर्वहारा वर्ग था। परिश्रम से पैदा करता था पर उसका उपयोग उच्च वर्ग तथा कुछ मध्यम वर्ग के लोग करते थे। इन लोगों के पास कपड़े तथा जूते आदि प्रायः नहीं रहते थे। इस वर्ग को खाने की कमी नहीं थी पर इनका खाना मोटा-झोंटा होता था। इन्हें उच्च वर्ग की बेगार भी बजानी पड़ती थी। बीमारी और अकाल आदि का भी इन्हें प्रायः शिकार होना पड़ता था। धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों भारतीय व्यापार यूरोपीयों के हाथ में जाने लगा इस निम्न वर्ग

की दशा और भी खराब होती गई। बेकारी बढ़ जाने से इस वर्ग का नैतिक पतन भी बहुत हुआ।

इन तीन वर्गों के अतिरिक्त एक चौथा कलाकारों का वर्ग भी था। कलाकारों को प्रायः उच्च वर्ग की शरण लेनी पड़ती थी और ये प्रायः उच्च वर्ग के मनोरंजन या उनकी शिक्षा आदि के लिये लिखते थे। देश की अवस्था बिगड़ने पर उच्च वर्ग की अवस्था बिगड़ी और इस कारण कलाकारों को भी बहुत भटकना पड़ा। आगे हम देव के जीवन पर विचार करते समय देखेंगे कि वे प्रायः जीवन भर किसी अच्छे आश्रय-दाता की खोज में घूमते रहे पर सफल नहीं हुए और अन्त में 'नाहीं-नाहीं' सुनते-सुनते तंग आ कर और सन्तोषकर उन्हें भगवान् की शरण लेनी पड़ी।

इस युग में ठगी और चोरी का ज़ोर धीरे-धीरे बढ़ने लगा। भूखा क्या नहीं करता है? भोजन-वस्त्र न मिलने पर कुछ दूसरे तथा तीसरे वर्ग के लोग इस स्तर पर उतरने के लिए बाध्य हुए।

अन्धविश्वास लोगों में काफी घर कर चुका था। सती, बालविवाह तथा परदा प्रथा अपने ऊर्ध्व विंदु पर थीं। इनके भी सामाजिक कारण थे। अविवाहित सुन्दरी स्त्रियाँ उच्च वर्ग के व्यभिचार की प्रायः शिकार बनती थीं। इसके लिए उच्च वर्ग की दूतियाँ चारों ओर घूमती रहती थीं। रीतिकालीन साहित्य में दूती वर्णन इसका ही चित्र है। इसी अनाचार से बचने के लिये विधवाओं को मृत्यु की (सती), कन्याओं को विवाह (बालविवाह) की तथा स्त्री जाति को परदा की (परदानशीनी) शरण लेनी पड़ी।

इस काल में शिक्षा का कोई उचित प्रबन्ध न था। शिक्षा प्रायः धार्मिक होती थी, जिसके प्रधान केन्द्र मस्जिद, मक्तब तथा मठ-मन्दिर आदि थे। स्पष्ट है कि कम लोग इन स्थानों में पहुँच पाते थे। राज्य का ध्यान इस ओर नहीं के बराबर था। इसी कारण लोगों का बौद्धिक ह्रास

हो रहा था। तत्कालीन साहित्य में मौलिकता के अभाव का एक बड़ा कारण यह भी है।

धीरे-धीरे मुग़ल राज्य की समाप्ति के बाद अंग्रेज़ सत्तारूढ़ होते गए। इसके बाद कुछ अंग्रेज़ी सभ्यता का प्रभाव पड़ने लगा और शिक्षा में भी वृद्धि हुई। फिर भी जन्म का कोढ़ एक दिन में कैसे मिटता? कार्नवालिस ने भारतीयों को सरकारी नौकरी में लेना बहुत सोच-समझ कर बंद किया था। उसने देखा कि भारतीयों का नैतिक स्तर इतना गिर गया है कि घूस, झूठ एवं धोखा आदि उनके बाएँ हाथ का खेल है। कार्नवालिस का यह विचार उस समय के भारतीय समाज पर काफ़ी प्रकाश डालता है।

इस प्रकार हम देखते है कि समाज जीर्ण-शीर्ण तथा जर्जर था और उसमें अशिक्षा, अंधविश्वास एवं नैतिक पतन का अकांड तांडव हो रहा था।

(ग) आर्थिक दशा

ऊपर हम लोग समाज को कई वर्गों में बाँट चुके हैं। उच्चवर्ग की आर्थिक दशा बहुत ही अच्छी थी। उस सस्ती के ज़माने में शाहजहाँ की वार्षिक आमदनी २२ करोड़ रुपए थी। उच्चवर्ग खाते-खाते मरता था। पर दूसरी ओर अन्य वर्गों की आर्थिक दशा बहुत ही ख़राब थी। बेचारे बिना खाये मरते थे। सरस्वती लक्ष्मी की चेरी बन चुकी थीं। कलाकार धनवानों के लिये सूँघते फिरते थे।

निम्नवर्ग को तरह-तरह के कर देने पड़ते थे। जज़िया फिर से हिंदुओं से लिया जाने लगा था। ठगी और चोरी से भी लोगों की आर्थिक हानि हो रही थी। बेगार करने के कारण निम्नवर्ग कभी-कभी अपनी मज़दूरी से भी वंचित रह जाता था। दूकानदारों को अफ़सरों को घाटा सहकर सामान देना पड़ता था। इस प्रकार उनकी भी आर्थिक दशा अच्छी न थी। कृषकों की दशा तो और भी बुरी थी। अकाल आदि से तो फ़सल

हानि होती ही थी साथ ही उनसे तरह-तरह के कर तथा घूस ादि भी लिए जाते थे। राजनीतिक अव्यवस्था और लूट-पाट में भी न आदि की कम हानि न होती थी। बाहरी आक्रमणकारियों ने ार्थिक दशा और भी ख़राब कर दी। आगे चल कर यूरोपियों के ाधिपत्य के साथ देश के व्यापार को और भी धक्का लगा और उनकी कुटिल नीति से यहाँ का रहा-सहा धन भी विदेश जाने लगा। इस प्रकार दिन पर दिन देश की आर्थिक दशा रीतिकाल में बिगड़ती ही गई। फल यह हुआ कि आर्थिक दशा बिगड़ने के कारण लोगों को नैतिक-अनैतिक का ध्यान छोड़ पेट भरने के लिए भला-बुरा सभी कुछ करना पड़ा। साथ ही निम्नवर्ग के बहुत से लोगों को चाहे या अनचाहे अपना काम छोड़कर बेकार भी बनना पड़ा।

उस समय का साहित्य जन जीवन से बहुत दूर हो गया था। इसी कारण उसमें जनता की इस विपन्नावस्था के स्पष्ट चित्र अधिक नहीं मिलते।

(घ) धर्म और आचार

धन से ही धर्म होता है। धन के अभाव में नैतिक अवस्था बिगड़ जाती है और शिक्षा आदि की कमी के कारण धर्म की आत्मा का ह्रास होने लगता है। अंधविश्वास और लौकिक बाह्याचार बढ़ने लगते हैं। रीतिकालीन निम्नस्तरीय लोगों के विषय में और प्रायः मध्यवर्ग के भी विषय में यही बात सत्य थी। दूसरी ओर उच्चवर्गीय लोग अपने वैभव और विलास में इतने आकूड़ निभोर थे कि उनमें भी धर्म और आचार के यथार्थ रूप का प्रायः अभाव था। इस प्रकार पूरा समाज धर्म और नैतिक आचारों की दृष्टि से पतनोन्मुख था।

पूरे रीतिकाल में प्रमुखतः चार धर्म—हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख और ईसाई हमारे समक्ष आते हैं। हिन्दू धर्म भारत का पुराना धर्म है। रीति-[illegible] में शंकर, रामानुज तथा वल्लभ आदि के कई वाद

चले। इस युग में वल्लभ संप्रदाय की सात गद्दियाँ वल्लभाचार्य के सात पुत्रों द्वारा स्थापित हुईं। इन गद्दियों में भी विलास और वैभव का धीरे धीरे नृत्य होने लगा। और ये चीजें यहाँ इतनी बढ़ीं कि बड़े-बड़े नवाब भी इनका अनुकरण करने में अपने को धन्य समझने लगे। वृन्दावन तथा हिंदी क्षेत्र के बाहर बंगाल आदि में चैतन्य संप्रदाय का बोलबाला था। इस संप्रदाय में भक्ति में परकीया भावना को अधिक महत्व मिला। रूप गोस्वामी ने गोपिकाओं का नायिका रूप में भेद-विभेद कर नायिका भेद को भी कृष्ण भक्ति में स्थान दे दिया। रीतिकालीन कृष्ण और गोपियों के चित्रों में इसी सम्प्रदाय की भक्ति का प्रतिबिंब है।

धीरे-धीरे कृष्ण के नाम पर पनपनेवाला यह वैभव तथा विलास व्यभिचार के समीप पहुँच गया और मठ-मन्दिर व्यभिचार के अड्डे बन गये। योगी लोग भीतर ही भीतर भोगी हो गये। दक्षिण में देव दासियों का भी प्रायः यही युग था।

धर्म की दृष्टि से भी समाज मोटे रूप से दो भागों में विभक्त था। एक ओर तो गुरु, पुजारी, पण्डे तथा ब्राह्मण आदि मध्यस्थ या धर्माध्यक्ष थे और 'दूसरी ओर थी अशिक्षित अंधविश्वासपूर्ण मूर्ख जनता। धर्माध्यक्ष वर्ग जनता को तरह-तरह के बाह्याडंबरों में फँसा कर खूब चूस रहा था। साधुओं के अतिरिक्त मुसलमानी 'पीर आदि भी अपनी तावीजों से हिंदू जनता को ठग रहे थे।

इस काल में रामचरितमानस प्रधान धर्म ग्रंथ था। रासलीला तथा रामलीला आदि का विशेष प्रचार था।

एक बात यह भी ध्यान देने की है कि राजधर्म मुसलमान धर्म था। फलतः हिंदुओं पर तरह-तरह के अत्याचार होते थे। शाहजहाँ के समय मे ही अत्याचार आरम्भ हो गये थे। औरंगजेब तक आते-आते जज़िया लगा, मन्दिर गिराए जाने लगे और उनके स्थान पर मस्जिदों का निर्माण होने लगा। मथुरा, रेनुकता के पास तथा बनारस आदि में आज भी

इसके प्रमाण उपस्थित हैं। लोगों को अपने व्रत एवं त्योहारों के पालन की भी पूर्ण स्वतन्त्रता न थी। दूसरी ओर मुसलमान धर्म स्वीकार करने पर रुपए मिलते थे तथा नौकरियाँ दी जाती थीं। इस प्रकार हिंदू धर्म बड़ी विपन्नावस्था में था और लोग धीरे-धीरे हिन्दू से मुसलमान हो रहे थे।

उस काल का दूसरा धर्म मुसलमान धर्म था। राजधर्म होने के कारण इसकी बड़ी उन्नति थी। तलवार और धन दोनों ही इस धर्म की वृद्धि में तत्पर थे। हिन्दू मुसलमानों को म्लेच्छ कहते थे और मुसलमान हिंदुओं को क़ाफिर। एक दूसरे से घृणा करते थे। मुसलमान धर्म में भी धर्माध्यक्ष पीर तथा मुल्ला लोग हिन्दू धर्माध्यक्षों की भाँति तावीज, क़ब्रपूजा तथा जिन आदि के बहाने नीचे तबक़े के मुसलमानों को लूट रहे थे।

इन दोनों ही धर्मों के अन्तर्गत एक वर्ग ऐसा भी था जो हिन्दू और मुसलमान दोनों से भी अधिक उदार और सहिष्णु था। यह वर्ग था प्रेमाश्रयी और ज्ञानाश्रयी सन्तों का। ये लोग मानव मात्र में आस्था रखते थे और हिन्दू मुसलमान दोनों से ऊपर मानव धर्म को प्रतिष्ठा देते थे। विशेषतः ज्ञानाश्रयी शाखा में यह बात अधिक थी। ज्ञानाश्रयी सन्त राम और रहीम को एक मानते थे। ये लोग दोनों धर्मों की वास्तविकता को धर्म मानते थे तथा दोनों के अंधविश्वासों एवं रूढ़ियों का खुल कर विरोध करते थे। कबीर और जायसी की परम्परा में होने वाले इन संतों ने हिन्दू और मुसलमानों को एक करने का भी बहुत प्रयास किया इसका इतना प्रभाव तो अवश्य हुआ कि दोनों के विरोध में बहुत कम हो गई पर इनका प्रयास पूर्णतः सफल न हो सका।

तीसरा धर्म सिक्खों का था। यह पूर्णतः हिंदी प्रदेश में तो न [illegible] हुआ पर इससे हिंदी क्षेत्र अछूता भी न रहा। गुरु नानक इस सम्प्रदाय के [illegible] थे। सिक्ख सम्प्रदाय मूलतः तो हिंदू और मुसलमानों में ए[illegible] करने के लिये हुआ था, पर औरंगजेब की विरोधपूर्ण नीति

इसे पूर्णतया मुस्लिम-विरोधी बना दिया और बहुत बलिदान करके भी यह धर्म मुसलमानों से मोर्चा लेता रहा।

यूरोपीयों के आने के बाद ईसाई धर्म का भी यहाँ धीरे-धीरे प्रचार प्रारम्भ हुआ। अंग्रेजों की नींव मज़बूत होने के बाद यह भी राजधर्म हो गया अतः राजशक्ति का सहारा पाकर फलने फूलने लगा। जिस प्रकार अनेकानेक लालचों या भयादि से बहुत से हिन्दू मुसलमान हुये थे अब बहुत से ईसाई होने लगे और ईसाइयों की संख्या धीरे-धीरे बढ़ने लगी। लार्ड वेलज़ली के समय में सात देशी भाषाओं में बाइबिल का अनुवाद कराया गया। स्थान-स्थान पर चर्चों की स्थापना हुई। इस प्रकार इस धर्म की भी उत्तरोत्तर उन्नति होने लगी।

रीतिकाल के अंतिम चरण में यूरोपीय सम्पर्क के कारण हिन्दू तथा मुसलमान कुछ वैज्ञानिक और तर्कशील हो गये तथा अंधविश्वास दूर होने लगा पर इस परिस्थिति ने रीतिकाल पर कुछ प्रभाव न डालकर हिंदी के आधुनिक काल को प्रभावित किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रीतिकाल में धार्मिक दशा भी बड़ी अव्यवस्थित-सी थी। धर्म को भूल कर लोग प्रायः अंधविश्वासों तथा मूर्खतापूर्ण रूढ़ियों को धर्म समझने लगे थे। यदि एक वाक्य में कहना चाहें तो राजनीति एवं समाज की भाँति धर्म भी क्षयग्रस्त था। आचार और नैतिकता की भी यही दशा थी। नीचे से ऊपर तक घूसखोरी, धोखा, फ़रेब, अत्याचार एवं अनाचार का साम्राज्य था।

(ङ) कला

१. स्थापत्य

मुगलों का स्थापत्य प्रेम स्थापत्य के विश्व में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। बाबर से ही इसके अंकुर मिलने लगते हैं। बाबर को भारतीय स्थापत्य उच्चकोटि का न लगा अतः उसने अपनी इमारतों के लिए

नतुनियों से कारीगर बुलवाए। उसकी बनवाई दो मस्जिदें आज: हैं। बाबर के बाद हुमायूँ आता है। हुमायूँ का अधिक समय युद्ध बीता अतः वह बहुत कम भवन बनवा सका। अकबर ने इस कला को प्रोत्साहन दिया। उसके समय में ईरानी स्थापत्य का यहाँ स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। उसके बनवाये सबसे प्रसिद्ध भवन सिकंदरा का मक़बरा और फतहपूर सिकरी का राजभवन हैं। जहाँगीर स्वयं तो चित्रकला का अधिक प्रेमी था पर उसकी स्त्री नूरजहाँ ने कुछ सुन्दर भवन बनवाए, जिनमें अधिक प्रसिद्ध जहाँगीर का मक़बरा है। चित्रकला के क्षेत्र में जो स्थान जहाँगीर का है स्थापत्य के क्षेत्र में वही स्थान शाहजहाँ का है। इसकी बनवाई इमारतें दीवान-ए-आम, दीवान-ए-ख़ास, जामा मस्जिद, मोती मस्जिद तथा ताजमहल आदि हैं। ताजमहल तो संसार में अपना सानी नहीं रखता। इसके बनाने के लिए फ़ारस, अरब तथा टर्की आदि से कारीगर आए थे और २२ वर्ष का समय एवं ३ करोड़ रुपए लगे थे। इसकी पच्चीकारी और नक्काशी देखकर आज भी लोग दाँतों तले अँगुली दबाते हैं। शाहजहाँ के बाद अन्य कलाओं की भाँति स्थापत्य की भी अवनति होने लगी। औरंगज़ेब ने दो रूप से इस कला को हानि पहुँचायी। एक तो उसे कलाओं से कोई प्रेम नहीं था अतः स्थापत्य कला को उसने प्रोत्साहित नहीं किया। जो भवन बनवाए भी वे बड़े साधारण और फर्गुसन के शब्दों में पुरानी इमारतों के घटिया अनुकरण मात्र थे। इन इमारतों में लाहौर की मस्जिद कुछ अच्छी है पर वह भी जामा मस्जिद की नक़ल मात्र है। दूसरे, उसने हिन्दुओं के कितने ही सुन्दर कलाकृतियों को धराशायी करवा दिया। यह प्रवृत्ति कुछ-कुछ शाहजहाँ के समय से ही मिलती है। उसने भी पत्थर वाले मंदिरों को तोड़वा दिया था। औरंगज़ेब ने मथुरा, बनारस आदि हिन्दुओं के तीर्थस्थलों पर यह उपद्रव विशेष किया था। काशी का आलमगीर का मकबरा आज भी खड़ा है। यह पहले बिन्दुमाधव

जी का मंदिर था। औरंगजेब ने इसे तुड़वा कर मस्जिद बनवाई पर यह अब भी अपने पुराने नाम 'माधवराव का धरहरा' से ही पुकारा जाता है। औरंगज़ेब के बाद मुग़लों का कोष खाली हो गया अतः इस ओर उनका ध्यान न जाना स्वाभाविक ही था। इसके बाद केवल शाह आलम द्वितीय ही ऐसे मुग़ल बादशाह थे जिनके अहमदाबाद में बने कुछ भवन उल्लेखनीय हैं। इन भवनों पर जैन मन्दिरों का स्पष्ट प्रभाव है। राजस्थान में कुछ हिन्दू राजाओं ने भी भवन बनवाए पर उनमें जयसिंह सवाई तथा सूरजमल के ही कुछ भवन उल्लेख्य हैं। मुग़लों के मक़बरों के अनुकरणों पर कुछ राजाओं ने भी अपनी छतरियाँ बनवाईं जिनमें कुछ काफ़ी सुन्दर हैं। मराठों में भी भवन निर्माण का प्रेम था। काशी के कुछ घाट और मन्दिर उनके बनवाए हैं। डा० श्यामसुन्दरदास के शब्दों में—(मराठों के) मंदिरों में तो प्राचीन शैली का अनुकरण मात्र है पर घाटों की विशेषता उनके भारीपन में है जिसके कारण उनके निर्माताओं की महत्वाकांक्षा प्रदर्शित होती है। सिक्खों की बनवाई इमारतों में अमृतसर का स्वर्णमन्दिर अधिक प्रसिद्ध है। इस पर ताजमहल का कुछ प्रभाव पड़ा है।

इस प्रकार शाहजहाँ के बाद इस कला की भी अवनति होती गई और पूरे रीतिकाल में या तो उल्लेख्य भवन बने ही नहीं या फिर बने भी तो प्राचीन भवन के असफल अनुकरण मात्र।

२. मूर्तिकला

मूर्तिकला की उन्नति का युग हिन्दी के पदार्पण के साथ ही प्रायः समाप्त हो जाता है। श्री राय कृष्णदास अपनी पुस्तक 'भारतीय मूर्तिकला' में लिखते हैं, '१३वीं शती के बाद उत्तर भारत की मूर्तिकला में कोई जान नहीं रह गई। मुसलमान विजेता मूर्ति के विरोधी थे फलतः उनके प्रभाव-वश यहाँ के प्रस्तर शिल्प के केवल उस अंश में कला रह गई जिसमें ज्यामितिक आकृतियाँ वा बेल-बूटे की रचना होती थी। मूर्तियों के

प्रति राज्याश्रय के अभाव में ऊँचे दर्जे के कारीगरों ने अपनी सारी प्रतिभा अलंकारों के विकास में लगाई।' कुछ मन्दिर राजस्थान तथा ग्वालियर में बने पर उनमें कोई सजीवता नहीं है, हाँ मुस्लिम प्रभाव अवश्य स्पष्ट है। रीतिकाल तक आते-आते रही सही भद्दी मूर्तिकला भी प्रायः विस्मृत हो गई। हिन्दी प्रदेश के बाहर उड़ीसा तथा गुजरात आदि में अवश्य कुछ मूर्तियाँ बनीं पर वे भी परम्परा की पालन मात्र थीं। उनमें कोई मौलिकता या स्वतन्त्र प्रतिभा की झलक नहीं है। इसी प्रकार नैपाल में भी कुछ मूर्तियाँ बनीं जो महायान शैली से प्रभावित हैं। अंततः हम देखते हैं कि हिन्दी प्रदेश तो मूर्तिकला की दृष्टि से प्रायः पूर्णतः शून्य है ही अन्य प्रदेशों में भी जो मूर्तियाँ इस युग में बनीं अनुकरण मात्र थीं। कहना न होगा कि पूरे देश में इस युग में मूर्तिकला का ह्रास प्रायः सभी कलाओं से अधिक हुआ।

३. चित्रकला

मुग़ल वंश सर्वदा से इस कला का प्रेमी रहा है। यह उनकी वंशगत चीज़ है। बाबर तथा हुमायूँ स्वयं चित्रकार तो न थे पर दोनों ही इसके प्रेमी थे। विशेषतः हुमायूँ अपने पराभव काल में भी चित्रकारों को आश्रय देने वाला था। अकबर में यह गुणग्राहकता और भी अधिक थी। वह स्वयं एक कुशल चित्रकार था। बचपन से ही उसने इसका अभ्यास किया था। उसका मूल सिद्धान्त था 'सुलहकुल' अर्थात् सबसे मेल। उसके काल के स्थापत्य, संगीत, दीनइलाही, उसके पहनावे तथा आचार-विचार में भी यह बात स्पष्ट होती है। उसकी चित्रकला में भी यही बात था। उसने एक ऐसी शैली को प्रोत्साहन दिया जिसमें मूल अंश तो भारतीय था पर कुछ ईरानी आदि बाहर की शैलियों का भी मिश्रण था। इस प्रकार इस युग में एक नवीन शैली का विकास होने लगा। इस काल का सर्वश्रेष्ठ चित्रकार जसवंत था। जहाँगीर स्वयं बड़ा कुशल चित्रकार था और चित्रों का सुन्दर पारखी भी था। उसके काल

में हिन्दू चित्रकारों को अधिक प्रोत्साहन न मिलता था। इस समय तक आते-आते हिन्दू कला की श्रेष्ठता सिद्ध हो चुकी थी अतः ईरानी कला को छोड़ हिन्दू कला ही अपनाई गई। कुछ लोग इस काल को भारतीय चित्रकला का स्वर्णयुग मानते हैं। इसमें स्वाभाविकता और सजीवता अपनी चरम सीमा पर है। इस काल के चित्रकारों में मंसूर तथा विशनदास अधिक प्रसिद्ध हैं। शाहजहाँ को इमारतों का शौक था, अतः स्वभावतः उसने चित्रकला को अधिक प्रोत्साहन न दिया। महलों की दीवारों आदि पर जो चित्रकला मिलती भी है उसमें व्यर्थ की यांत्रिक बारीकी मात्र है। इस काल में चित्रकारों को आश्रय देने वालों में लाहौर के आसफ़ खाँ का नाम अधिक प्रसिद्ध है। ये प्रायः हिन्दी क्षेत्र से बाहर पड़ते थे। यहाँ हम देखते हैं कि रीतिकाल के आरम्भ में ही चित्रकला का पतन प्रारम्भ हो गया। उसमें सजीवता, स्वाभाविकता तथा मौलिकता के स्थान पर यान्त्रिक बारीकी, अलंकरण एवं नक्काशी आदि की प्रवृत्ति बढ़ने लगी जो अंत में जी को उबा देने वाली हो गई। औरंगज़ेब के शासन काल में अन्य कलाओं की भाँति चित्रकला का भी ह्रास हुआ। चित्रकला के साथ तो उसने इतनी क्रूरता की कि अकबर के मकबरे की चित्रकारी मिटवा डाली। औरंगज़ेब के बाद मुग़ल दरबार की श्री-संपत्ति समाप्त हो गई और इसी कारण कला प्रेमी होने पर भी बाद के बादशाह इस ओर विशेष ध्यान न दे सके।

मुग़लों के दरबार में विकसित चित्रकला मुग़ल शैली के नाम से प्रसिद्ध है। बाद में इस शैली के दो प्रधान भेद हो गए, जो लखनऊ और दिल्ली क़लम के नाम से पुकारे जाते हैं। दिल्ली के उजाड़ होने के बाद चित्रकला के केन्द्र हैदराबाद, मुर्शिदाबाद तथा अवध आदि हो गए। इन सभी केन्द्रों की चित्रकला भी शाहजहाँ की ही विशेषताएँ रखती है। उसमें शृंगारिकता एवं बारीकी का ही आधिक्य है।

यह तो राज दरबारों की बात थी। इनसे अलग भी चित्रकला का

काम हो रहा था। कुछ कृष्ण सम्प्रदाय के मठों में राधा और कृष्ण की भिन्न-भिन्न मुद्राओं में चित्र बने जो रीतिकालीन शृंगारिकता तथा वैभव-विलास से ओत-प्रोत हैं। इसके अतिरिक्त राजस्थान की ओर एक राजपूत शैली थी जिसके राजस्थानी और काँगड़ा शैली दो भेद हैं। ये दोनों शैलियाँ पूर्णतः भारतीय थीं। इनका जन जीवन से सम्बन्ध था। काँगड़ा शैली में भावात्मकता का आधिक्य है। राजस्थानी शैली कहीं-कहीं ईरानी शैली से प्रभावित मिलती है। विशेषतः इसकी जयपुर क़लम में यह प्रभाव अधिक स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त बाद के काल में बुंदेलखंडी शैली भी प्रसिद्ध है। इस शैली में रीतिकाल के देव-बिहारी आदि प्रमुख कवियों की पंक्तियों के आधार पर चित्र बने। इसमें भाव की अपेक्षा बाह्य रूप-रंग पर अधिक ध्यान दिया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रीतिकाल के आरम्भ के साथ ही चित्रकला का ह्रास शुरू हुआ और रीतिकालीन चित्रकला में रीतिकालीन काव्य की ही भाँति, मौलिकता, सजीवता तथा जनजीवन के सम्पर्क का प्रायः अभाव है और दूसरी ओर बारीकी, अलंकरण तथा यांत्रिक सौंदर्य का बाहुल्य है।

ज़ेब कट्टर सुन्नी होने के कारण इसका विरोधी था। उसने सभी संगीतज्ञों को दरबार से निकाल दिया। इस विकेन्द्रीकरण का परिणाम यह हुआ कि इस कला का बुरी तरह ह्रास होने लगा। औरंगज़ेब काल का प्रसिद्ध संगीतज्ञ भागदत्त था जो अनूपसिंह के आश्रय में रहता था। आगे चलकर मुहम्मदशाह रँगीले ने अवश्य संगीत को आश्रय देने का प्रयास किया पर पुरानी बात न आ सकी। इनके समय में दरबारी संगीतज्ञों में अदारंग और सदारंग के नाम प्रसिद्ध हैं। ये लोग ध्रुपद बानी के ख्याल के उस्ताद थे। 'टप्पा' का प्रचलन भी इसी समय हुआ। इसके आविष्कर्ता पञ्जाब के शोरी मियाँ थे। श्रीनिवास का 'रागतत्व विबोध' नामक प्रसिद्ध संगीत ग्रन्थ इसी काल में लिखा गया। अन्त में जब दिल्ली इस योग्य न रह गई कि कलाकार वहाँ सम्मान की आशा रख सकें तो ग्वालियर और महाराष्ट्र में इसके केन्द्र बने। ग्वालियर आजतक संगीतज्ञों का गढ़ समझा जाता है। विशेषतः ख्याल में तो यह अपना सानी नहीं रखता।

सम्वत् १६०२ के लगभग कृष्णानन्द नामक एक ब्राह्मण ने बड़े परिश्रम से पूरे उत्तरी भारत के गेय साहित्य का 'राग कल्पद्रुम' नाम से चार भागों में संग्रह किया। इसी के आसपास अवध के नवाब, प्रसिद्ध रसिक और कला प्रेमी वाज़िदअली शाह ने ठुमरी शैली का प्रचलन किया। डा० श्यामसुन्दरदास के शब्दों में 'यह संगीत प्रणाली का अन्यतम स्त्रैण और शृंगारिक रूप है।' इस प्रकार हम देखते हैं कि रीतिकाल में संगीत का धीरे-धीरे ह्रास होता गया (यद्यपि अन्य कलाओं की अपेक्षा कम) और वह ह्रास वर्तमान काल में भी रुक न सका। आज भी संगीत की दशा सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती।

निष्कर्ष

ऊपर रीतिकाल की राजनीतिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा कलात्मक परिस्थितियों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

हम देखते हैं कि प्रत्येक क्षेत्र में वह युग उतार पर था। कहीं भी कोई मौलिकता या सजीवता का नाम नहीं। शुक्लजी ने रीतिकाल का सामान्य परिचय देते हुए प्रथम वाक्य लिखा है—'हिंदी काव्य अब पूर्णता को पहुँच गया था।' यह दशा सभी क्षेत्र में थी। ऐसा लगता है कि सभी क्षेत्रों में ऊर्ध्व बिंदु उसके पूर्व ही आ चुका था, इसी कारण उस युग में नीचे ही गिरने की बारी थी।

यही पृष्ठभूमि का उतार इस काल के साहित्य में भी मिलता है

अध्याय २

जीवन

भारतीय साहित्य-साधकों की यह एक प्रधान विशेषता रही है कि ये लोग अपने विषय में नहीं के बराबर लिखते आए हैं। इसी कारण संस्कृत एवं आधुनिक भाषाओं के सारे पुराने रत्न प्रामाणिक जीवनी की दृष्टि से अन्धकार में पड़े हैं। देव भी इसके अपवाद नहीं हैं। अपने ग्रन्थों में दो-एक स्थलों को छोड़कर कहीं भी इन्होंने अपनी जीवनी के अंगों का उल्लेख नहीं किया है। इस प्रकार देव की जीवनी के विषय में अंतर्साक्ष्य का अधिक सहारा नहीं मिलता। दूसरी ओर जहाँ तक बहिर्साक्ष्य का संबंध है, इस क्षेत्र में भी अधिक सामग्री नहीं मिलती। इन दो के बाद केवल जनश्रुति का सहारा शेष रहता है। इसमें कुछ सामग्री मिल तो जाती है पर वह भी अधिक प्रामाणिक नहीं है। इस तरह हम देखते हैं कि देव की जीवनी के सम्बन्ध में प्रामाणिक एवं वैज्ञानिक सूत्रों का एकांत अभाव है, फिर भी इतिहासकारों एवं देव के प्रेमियों ने उपर्युक्त तीन निर्बल सूत्रों के आधार पर ही जीवनी की एक रूपरेखा खड़ी कर दी है। सूत्रों की निर्बलता के कारण ही इनकी जीवनी की बहुत सी बातों के सम्बन्ध में जैसा कि आगे हम देखेंगे विद्वानों की एक राय नहीं है।

(क) जन्मस्थान

पहला प्रश्न देव के जन्मस्थान के विषय में उठता है। शिवसिंह सेंगर ने अपने 'शिवसिंह-सरोज' में जिला मैनपुरी के समनि गाँव में इनका जन्म माना है[1]। अंतर्साक्ष्य में कोई भी इस प्रकार की चीज़

---

[1] शिवसिंह सरोज, नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, १९२६, पृ० ४३४

नहीं मिलती। सम्भव है किसी ऐसी जनश्रुति के आधार पर उन्होंने यह लिखा हो जो आज प्रचलन में न हो। शिवसिंह के ही अनुकरण पर कुछ और लोगों ने भी इनको ज़िला मैनपुरी के समाने गाँव का निवासी माना है। देव नाम के कई कवि हो गये हैं। हो सकता है कि कोई और देव कवि वहाँ के रहने वाले रहे हों और सिंहजी तथा अन्य लोगों ने इसी आधार पर यह ग़लती कर दी हो। यह इनके जन्मस्थान के सम्बन्ध में एक पक्ष है। दूसरे पक्ष के मिश्रबंधु, रामचंद्र शुक्ल, डा० रसाल, सूर्यकान्त शास्त्री, श्यामसुन्दरदास आदि इतिहासकार तथा पण्डित बालदत्त मिश्र[1], कृष्णबिहारी मिश्र[2], लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी[3] एवं गोकुलचन्द्र दीक्षित[4] आदि विद्वानों ने भाव-विलास की हस्तलिखित प्रति के एक दोहे—

द्योसरिया कवि देव को, नगर इटायो वास।
जोवन नवल सुभाव रस, कीन्हों भाव विलास॥

के आधार पर इन्हें इटावे का निवासी माना है। यह मत अधिक समीचीन ज्ञात होता है। कृष्णबिहारी मिश्र ने अपनी पुस्तक 'देव और बिहारी' के परिशिष्ट में देव की जीवनी सम्बन्धी एक लेख जो हिंदी साहित्य सम्मेलन, कानपुर में पढ़ा गया था, उद्धृत किया है। प्रस्तुत लेख में यह कहा गया है कि कुछ दिन पूर्व तक इटावा और मैनपुरी जिले एक में सम्मिलित थे अतः मैनपुरी में देव का जन्मस्थान मानने वाले भ्रान्त नहीं कहे जा सकते। किंतु यथार्थतः बात ऐसी नहीं है। मैनपुरी में जन्म मानने वाले इनको समाने गाँव में मानते हैं, पर उपर्युक्त दोहे में जन्म स्थान इटावा नगर माना गया है। ऐसी परिस्थिति में

किसी भी आधार पर दोनों मतों में सामञ्जस्य नहीं स्थापित किया जा सकता, और इस प्रकार सेंगरजी तथा उनके सहयोगियों का मत नितांत भ्रमपूर्ण ज्ञात होता है।

देव के वंशजों के पुराने खण्डहर इटावे के लालपुरा (वलालपुरा[1]) मुहल्ले में अब भी हैं। परम्परागत जनश्रुति के अनुसार २६ वर्ष की अवस्था में देव लालपुरा छोड़कर वहाँ से ३०-३२ मील दूर कुसमरा चले गए। कुसमरा में देव के कुल के कुछ लोग आज भी हैं। वहाँ एक बगीची का भग्नावशेष है जो 'देव की बगीची' नाम से प्रसिद्ध है[2]। पास का नीम वृक्ष तथा स्थापित शिवमूर्ति—दोनों ही उनके हाथ के कहे जाते हैं। वहाँ पूछने से यह भी पता चलता है कि अन्त तक देव वहीं रहे। ये सारी बातें सिद्ध करती हैं कि अवश्य ही देव के जीवन का उत्तर भाग कुसमरा में बीता, हाँ जैसा कि हम आगे देखेंगे, वे बीच-बीच में आश्रयदाताओं की खोज में तथा देशाटन के लिये अवश्य बाहर निकलते रहे।

(ख) जन्म तिथि

शिवसिंह सेंगर के अनुसार देव का जन्म-संवत् १६६१ है,[3] पर आज के विद्वान् इसे भ्रांति पूर्ण मानते हैं। भाव विलास के अंतिम तीन दोहों में से दूसरा दोहा है—

> सुभ सत्रह से छियालिस, चढ़त सोरहीं वर्ष।
> कढ़ी देव-मुख देवता, भाव विलास सहर्ष॥

आशय यह है कि १७४६ में देव १५ वर्ष के हो चुके थे। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि इनका जन्म १७३० या ३१ में हुआ था।

[1] हिन्दी नवरत्न (छठाँ संस्करण)
[2] देव और उनकी कविता—डा० नगेन्द्र
[3] शिवसिंह सरोज, नवलकिशोर प्रेस, १६२६, पृ० ४३४

अंतर्साक्ष्य पर आधारित यह जन्म-संवत् ही आज प्रामाणिक माना जाता है।

(ग) जाति

जन्म-संवत् एवं जन्म-स्थान से अधिक विवादास्पद विषय देव की जाति का है। डा० शिवसिंह ने तो उन्हें केवल ब्राह्मण कहकर संतोष कर लिया था, पर उनके बाद कान्यकुब्ज और सनाढ्य को लेकर झगड़ा उठ खड़ा हुआ।

भाव-विलास में एक दोहा है—

> द्योसरिया कवि देव को नगर इटायो वास।
> जोवन नवल सुभाव रस, कीन्हों भाव विलास॥

आरम्भ में लोगों ने 'द्योसरिया' शब्द को 'द्य' और 'ध' में रूप साम्य के कारण 'धौसरिया' पढ़ा। धौसरिया सनाढ्य ब्राह्मणों की एक शाखा है, अतः इसी आधार पर देव सनाढ्य घोषित किये गये। इस बात को सही मानने का एक और प्रमाण यह मिला कि इटावे में सनाढ्यों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक है। पण्डित रामचंद्र शुक्ल अंत तक यही मानते रहे। डा० सूर्यकान्त आदि कुछ अन्य इतिहासकारों ने भी इनका साथ दिया है। दूसरी ओर मिश्रबंधु तथा डा० श्यामसुंदरदास आदि आरम्भ में तो इस मत के पोषक अवश्य थे पर बाद में इन लोगों की राय बदल गई और देव को 'कान्यकुब्ज' मानने लगे। डा० रसाल ने अपने इतिहास में इन्हें कान्यकुब्ज ही माना है और इनका सनाढ्य होना निराधार बतलाया है। डा० नगेन्द्र ने इस पर कुछ विस्तार से विचार किया है और उनका मत समीचीन भी है, अतः यहाँ उसे दे रहे हैं।

सनाढ्य मानने के भ्रम का मूल दोषारोपण पाठ-दोष पर किया जा सकता है। उपर्युक्त दोहे में शब्द 'धौसरिया' न होकर 'द्योसरिया' है। 'द्योसरिया' शब्द 'दुसरिया' का रूपान्तर है। इटावे में 'दुसरिया' या 'देवसरिया' ब्राह्मण रहते हैं। ये लोग कान्यकुब्ज त्रिवेदी हैं। यही प्रश्न यह

भी उठ सकता है कि हस्तलिखित प्रति में 'द्यौसरिया' जब ऐसा लिखा है कि द्यौसरिया और धौसरिया दोनों पढ़ा जा सकता है तो क्यों उसे धौसरिया न मानकर द्यौसरिया ही माना जाय ? इसका उत्तर यह है कि देव के द्यौसरिया (कान्यकुब्ज) होने का एक और अकाट्य प्रमाण मिलता है। देव के प्रपौत्र भोगीलाल ने अपना वंश-परिचय देते हुये देव के विषय में लिखा है—

काश्यप गोत्र द्विवेदी कुल कान्यकुब्ज कमनीय।
देवदत्त कवि जगत में भये देव रमनीय॥

अतः अब इसमें तनिक भी सन्देह नहीं रह जाता कि देव काश्यप गोत्रीय कान्यकुब्जों की 'दुसरिया' या 'दुसरिहा' शाखा के द्विवेदी ब्राह्मण थे। देव के बचेखुचे वंशज भी आज यही बतलाते हैं।

(घ) पिता

देव के पिता के नाम के सम्बन्ध में भी विवाद है। सिद्धान्त-वाचस्पति पं० गोकुल चन्द्र दीक्षित ने 'शृंगार-विलासिनी' की भूमिका में शृंगार-विलासिनी के

देवदत्त कविरिष्टिका पुरवासी स चकार।
ग्रंथमिमं वंशीधर, द्विजकुल धुरं बभार॥

छंद एवं देवकृत संस्कृत ग्रंथ 'लक्ष्मी-दामोदर-स्तवन' के

'वंशीधर-तनुज-देवाख्य-कविना'

श्लोक के आधार पर देव के पिता का नाम वंशीधर माना है। पर सत्य यह है कि ये दोनों ग्रंथ एक अन्य देवदत्त कवि के हैं और वंशीधर उन अन्य कवि के ही पिता का नाम है।

भोगीलाल ने जो वंश-वर्णन अपने ग्रन्थ 'बखतेश-विलास' में दिया है वह देव से ही आरम्भ होता है अतः उसमें देव के पिता के नाम का पता नहीं चलता। कुसमरा (मैनपुरी) में पं० मातादीन दुबे के पास देव का वंश वृक्ष है, जिसमें देव के पिता का नाम बिहारीलाल दिया

गया है। डा० नगेन्द्र ने 'देव और उनकी कविता' में मौखिक रूप से प्रचलित एक छन्द उद्धृत किया है। छन्द की प्रथम दो पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

> दुबे बिहारीलाल भये निजकुल महँ दीपक।
> तिनके भे कवि देव कवित महँ अनुपम रोचक॥

इस प्रकार, जब स्वयं देव ने इस सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा है, तथा बिहारीलाल नाम होने के विरुद्ध दीक्षित जी का ही एक मात्र प्रमाण है जो ऊपर काटा जा चुका है, तो हम देव के पिता का नाम बिहारीलाल मान सकते हैं।

(ङ) आश्रयदाता तथा भ्रमण

युग-धर्म के अनुसार देव भी किसी धनी और उदार आश्रयदाता की खोज करते रहे पर अंत तक उन्हें कोई भी ऐसा न मिल सका जो उनकी जीविका का उचित रूप से आजन्म भार वहन कर सके। फल यह हुआ कि सर्वदा उन्हें इधर-उधर भटकना पड़ा।[1]

देव ने जब अपनी प्रारम्भिक रचनाएँ भाव-विलास और अष्टयाम तैयार कीं तो आश्रयदाता की खोज में वे आज़मशाह के यहाँ पहुँचे। आज़मशाह औरंगजेब के तीसरे पुत्र थे। ये बहुत विद्या व्यसनी, गुणज्ञ

[1] इस दृष्टि से विश्व में संभवतः सबसे अधिक भाग्यवान कवि, 'काव्यालंकार-सार-संग्रह' के रचयिता उद्भट हैं। कल्हण की 'राजतरंगिणी' को यदि सत्य मानें तो

> दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः।
> भट्टोऽभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः॥

अर्थात् उन्हें 'जयापीड़' के दरबार में सौ लाख स्वर्ण मुद्राएँ प्रतिदिन मिलती थीं। संसार में इतना अधिक अर्थ लाभ करनेवाला न कोई कवि हुआ है और न शायद होगा।

एवं साहित्यप्रेमी थे। बिहारी सतसई का प्रसिद्ध आज़मशाही क्रम रत्नाकर आदि कुछ विद्वानों को छोड़कर प्रायः सभी इन्हीं का कराया गया मानते हैं। आज़मशाह ने भाव-विलास और अष्टयाम को सुना तथा उनकी सराहना की, जैसा कि भाव-विलास के अंतिम दोहे—

दिल्लीपति अवरंग के आज़मशाह सपूत।
सुन्यो सराह्यो ग्रंथ यह, अष्टजाम संयूत॥

से स्पष्ट है। आज़मशाह ने देखने एवं सराहना करने के बाद उस सोलह वर्ष के रसिक कलाकार को अवश्य ही पुरस्कार भी दिया होगा, साथ ही अपने आश्रय में रखना चाहा होगा पर परिस्थितियों की प्रतिकूलता के कारण ऐसा न हो सका। आज़मशाह पर औरंगज़ेब का विश्वास कुछ कम-सा हो गया और वे गुजरात की ओर भेज दिए गए। कुछ ही दिन बाद औरंगज़ेब की मृत्यु के पश्चात् सिंहासन के लिए रणचण्डी का आह्वान हुआ जिसमें विजयश्री आज़मशाह के शत्रु मोअज़्ज़मशाह के हाथ रही। इस प्रकार आज़मशाह स्वयं निराश्रय हो गए तो फिर देव को आश्रय कहाँ से देते? फल यह हुआ कि देव को कोई और द्वार देखने की आवश्यकता पड़ी। देव और आज़मशाह की भेंट के सम्बन्ध में इतिहास के तथ्यों के आधार पर एक बहुत बड़ी शंका उठती है। सोलह या सत्रह वर्ष की अवस्था में देव इटावे से अधिक से अधिक दिल्ली जा सकते थे, पर इतिहासानुसार उस समय आज़मशाह अपने पिता के साथ दक्षिण में सैन्य-सञ्चालन कर रहे थे। पण्डित कृष्ण बिहारी मिश्र ने अपनी पुस्तक 'देव और बिहारी' में दोनों के भेंट की अधिक सम्भावना दक्षिण में की है, पर यह सम्भावना दो बातों के कारण कुछ असंगत-सी लगती है। प्रथमतः एक सोलह वर्ष का लड़का किसी आश्रय की तलाश में इतनी दूर नहीं जा सकता, वह भी ऐसे कुसमय में जब कि आश्रयदाता युद्ध-सञ्चालन में व्यस्त हो। दूसरे उस समय तलवारों की झनझनाहट के बीच उनकी गतिविधियों को अपलक

देखनेवाला आज़मशाह भला शृंगार रस से ओत-प्रोत कविताओं का आनंद भी ले कैसे सकता था ? इस सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र की सम्भावना अधिक विश्वसनीय ज्ञात होती है कि 'बीच में कुछ समय के लिए जब युवराज (आज़मशाह) दिल्ली आया होगा तभी देव उसकी सेवा में उपस्थित हुए होंगे ।'

आज़मशाह के बाद देव ने चर्खी-दादरी के राजा सीताराम के पुत्र या भतीजे भवानीदत्त वैश्य के नाम पर 'भवानी विलास' ग्रंथ बनाया और उसे निम्नांकित दोहों के साथ समर्पित किया —

श्रीपति जेहि सम्पति दई, सन्तति सुमति सुनाम ।
आदर्शीक चरखि दादरी पति नृप सीताराम ॥
नवलसिंह सुत धर्मधुज सीताराम नरेन्द्र ।
ता सुत उदय कुंवर सम वैश्य सुवंस महेन्द्र ॥

कुशल विलास में कुशलसिंह की साधारण बड़ाई होने का उल्लेख कर कुशल सिंह के यहाँ देव के साधारण मान की सम्भावना की है पर दूसरी ओर डा० नगेन्द्र ने 'देव ने उनके (कुशलसिंह) वैभव और दान दोनों की प्रशंसा की है जिससे यही धारणा होती है कि वे फफूँद में कुछ समय तक अवश्य रहे थे' लिखकर विरोधी विचार प्रकट किये हैं। यथार्थतः देव के अधिक आदर या उनके अधिक दिन फफूँद में रहने के विचार की आधार शिला बहुत पुष्ट नहीं दिखाई पड़ती। जो हो, देव को वहाँ कुछ प्रश्रय तो मिला ही।

देव तीन आश्रयदाताओं को पाने पर भी निश्चित न हो सके। उन्हें कोई ऐसा पारखी न मिला जिसकी शरण में वे पेट की चिंता छोड़कर केवल साहित्य-साधना कर पाते। अंत में 'नरनाहन' की 'नाही' सुनने से तंग आकर वे तीर्थाटन, देश-भ्रमण या प्रौढ़तर प्रश्रय पाने के लिये निकल पड़े और अंतर्वेद, मगध, कोशल, पटना, उड़ीसा, कलिंग, कामरूप, बंगाल, मालवा, आभीर, बरार, कोकनद, केरल, द्रविड़, तिलंग, कर्नाटक, गुजरात, राजस्थान, सिंध, काश्मीर तथा भूटान आदि की देशव्यापी यात्रा की। अपनी इस यात्रा के अनुभव का 'जाति विलास' ग्रंथ में कवि ने उपयोग किया है, जिसमें इन विभिन्न देशों की स्त्रियों का बाह्य चित्रण प्रायः अच्छा हुआ है। जातिविलास का समर्पण किसी को नहीं है। इसका अर्थ यह है कि उस समय इनका आश्रयदाता कोई नहीं था।

इस वृहद् यात्रा से लौटने पर कवि की भेंट भोगीलाल से हुई। देव ने अपना 'रसविलास' ग्रंथ भोगीलाल को समर्पित किया है। भोगीलाल कोई राजा आदि न होकर सम्भवतः कोई धनी आदमी थे पर ये इतने बड़े काव्य प्रेमी और गुणज्ञ थे कि पिछले तीन राजा-आश्रयदाताओं से कहीं अधिक इन्होंने देव का सत्कार किया। इसी कारण देव ने इनकी प्रशंसा में ज़मीन-आसमान एक कर दिया है। इस सम्बंध में प्रसिद्ध छंदों को यहाँ हम देख सकते हैं—

पावस-घन चातक तजै चाहि स्वाति-जल-बिंदु।
कुमुद मुदित नहि मुदित मन, जौं लौं उदित न इंदु।
देव सुकवि तातें तजे, राइ, रान, सुलतान।
रसविलास सुनि रीझिहैं भोगीलाल सुजान।

× × ×

भूलि गये भोज, बलि, विक्रम बिसरि गये,
जाके आगे और तन दौरत न दीदे हैं;
राजा, राइ, राने, उमराइ, उनमाने,
उनमाने निज गुन के गरब गिरवीदे हैं।
सुबस बजाज जाके सौदागर सुकवि,
चलेई आवैं दसहू दिसान के उनीदे हैं,
भोगीलाल भूप लाख पाखर लिवैया, जिन
लाखन खरचि रचि आखर खरीदे हैं।[1]

इसके बाद कवि भरतपुर एवं अलवर भी गया पर यहाँ के राजाओं को किसी ग्रन्थ का समर्पण नहीं है, इससे यह अनुमान लगता है कि कवि को कोई उल्लेख्य प्रश्रय नहीं मिला।

देव के अंतिम आश्रयदाता महमदी राज्य के अकबर अली खाँ थे। इनकी राजधानी पिहानी में थी। इस समय कवि की अवस्था ६० से उपर थी। उसने पुराने ग्रन्थों के छन्दों को छाँटकर एक नया ग्रंथ 'सुख सागर तरंग' बनाया और अकबर अली खाँ के समक्ष हाज़िर हुआ। ग्रन्थ के समर्पण में अकबर अली की पर्याप्त प्रशंसा की गई, इससे अनुमान लगता है कि वहाँ ये काफ़ी समादृत हुए। देव ने सुखसागर-तरंग में अकबर अली खाँ के लिये लिखा है—

ऐसो कौन आज जाकी सोहत समाज, जहाँ
सबको सुकाज साहिबी को सुख साज है।
देवगुण, संतमंत, सामंत समाज राज-
काज को जहाज दिलदरिया दराज है।
जा पै इतराज ता, गनीम सिर गाज बग-
बैरिन पै बाज सैद वंश सिरताज है।
सानी सुर-राज, जो पिहानी-पुर राज करैं
मही में जहाज महमदी महराज है।

(च) स्वभाव

रीतिकाल के सभी प्रधान कवियों की भाँति देव भी शृंगारी कवि थे अतः उनका जीवन भी कुछ इसी के निकट रहा होगा। उनकी रचनाओं को रचना-काल के क्रम से देखने पर हम देखते हैं कि अपने कवि-जीवन के उषा-काल में तो वे अवश्य शृंगारी और विलासी प्रकृति के थे पर शनैः शनैः ज्यों-ज्यों वे संसार के हृदय से परिचित होते गए उनकी भावना ऊँची उठती गई और वे भक्तिपरक होते गये।

शृंगार में भी वे अन्य कवियों की भाँति बहुत छिछले न थे।

गम्भीरता का उनमें सर्वत्र पुट मिलता है। बिहारी आदि कवियों के विरुद्ध उन्होंने सामान्या एवं परकीया नायिका को बुरा बतलाते हुए स्वकीया के प्रेम को श्लाघ्य बतलाया है—

पावै सरस सिंगार को सुद्ध सुकीया नारि।

अन्य रीतिकालीन कवियों की भाँति देव ने वासना, कामुकता और प्रेम को मिलाया नहीं है। उनके अनुसार तो प्रेम और विषय में बहुत अन्तर है—

विषय बिकाने जनन की प्रेमी छियत न छाँहि।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं देव धीरे धीरे धर्म की ओर झुकते गए और शिवाष्टक, देव-चरित्र, देव-माया प्रपंच नाटक, तथा देव-शतक आदि पुस्तकें उनके इस आरोहण की सीढ़ियाँ हैं।

है तथा दलीपनगर में इनकी मृत्यु मानी है। पर यह स्पष्ट रूप से भ्रमात्मक है। देव के अंतिम आश्रयदाता अकबरअली खाँ का समय सम्वत् १८२४ के लगभग है। अकबर अली खाँ को समर्पित ग्रन्थ 'सुखसागर तरंग' के बाद की कोई रचना या संग्रह-पुस्तिका भी कवि की नहीं मिलती। ऐसी दशा में सम्वत् १८२४ के कुछ बाद उनकी मृत्यु का अनुमान करना असंगत नहीं है। इस समय उनकी अवस्था भी ९४-९५ रही होगी। किंवदंतियों एवं परिस्थितियों के आधार पर डा० नगेन्द्र ने इनका मृत्यु स्थान कुसमरा माना है जो असंगत नहीं ज्ञात होता है। अतः हम कह सकते हैं कि देव का देहांत सम्वत् १८२५ के लगभग ९४-९५ वर्ष की अवस्था में कुसमरा के समीप हुआ।

कोई प्रामाणिक सूत्र होता तो योग्य लेखकों ने अवश्य उल्लेख किया होता।

जिस प्रकार सेंगर जी के बाद ७२ ग्रंथों के लिखने की परिपाटी-सी चल पड़ी थी उसी प्रकार मिश्रबंधुओं के बाद ७२ और ५२ के लिखने की परिपाटी चल पड़ी और इसे श्यामसुन्दरदास, डॉ० रसाल, पण्डित रामचन्द्र शुक्ल तथा कृष्णविहारी मिश्र आदि सभी ने अपनाया। आधुनिक इतिहासकारों में केवल डा० सूर्यकान्त शास्त्री ही एक ऐसे विद्वान् हैं जिन्होंने 'शिवसिंह सरोज' का अनुगमन करते हुए ७२ का उल्लेख किया है।

यह ७२ या ५२ तो लोगों ने जन-श्रुति के आधार पर दिया है पर इसके अतिरिक्त सभी ने पता लगने वाले ग्रन्थों की संख्या भी दी है। यह संख्या सरोज में ११, हिन्दी नवरत्नकार तथा रामचन्द्र शुक्ल में २५, श्यामसुन्दरदास तथा रसाल में २६, कृष्णविहारी मिश्र में २६ तथा डा० सूर्यकांत में ३० है।

यहाँ देव के ग्रन्थों के सम्बन्ध में इतिहासकारों, जनश्रुतियों, प्राप्त ग्रन्थों, तथा अन्य सूत्रों द्वारा उपलब्ध सामग्री का वर्गीकरण कर, उनके ग्रन्थों की परीक्षा एवं सिंहावलोकन कर लेना ही पर्याप्त होगा।

(ख) सामग्री का वर्गीकरण

प्राप्त सामग्रियों में प्रथम वर्ग उन पुस्तकों का बनाया जा सकता है जिनको सभी लोग देवकृत मानते हैं, तथा जिनके देवकृत होने के यथेष्ट प्रमाण मिलते हैं। इनमें कुछ ग्रन्थ तो प्रकाशित हो गए हैं पर कुछ अभी हस्तलिखित हैं।

इस प्रथम वर्ग के भी दो उपवर्ग बनाए जा सकते हैं। कुछ ग्रन्थ तो ऐसे हैं जिनके रचनाकाल का पता अन्तर्साक्ष्य या अनुमान के आधार पर लगाया जा सकता है, पर कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं जिनके रचनाकाल के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

दूसरा वर्ग उन पुस्तकों का है जिनके केवल नाम मिलते हैं, कोई प्रति नहीं मिलती। इस वर्ग की कुछ पुस्तकों के होने के सूत्र तो स्वयं देव के ग्रन्थों में ही मिलते हैं और कुछ ऐसे हैं जिनको कुछ लोगों ने देखा है पर आज उनका पता नहीं है। तीसरे प्रकार के वे ग्रन्थ हैं जिनका आधार केवल जनश्रुति है। कहना न होगा कि इस वर्ग के नाम सर्वथा विश्वसनीय नहीं हैं।

तीसरे वर्ग में शृंगार-विलासिनी के सम्पादक पण्डित गोकुलचन्द की सामग्री है, जिसे वे देवकृत मानते हैं, किन्तु अन्य विद्वान उनकी राय से तनिक भी सहमत नहीं हैं।

सामग्री वर्गीकरण के निष्कर्ष को हम यों रख सकते हैं :

[क] देव की प्रामाणिक और प्राप्त पुस्तकें —

लिये नहीं है कि लोगों का इस सम्बन्ध में मतभेद है, अपितु इसका कारण यह है कि पक्ष और विपक्ष में बहुत सी प्रौढ़ बातें कही जा सकती हैं।

प्रायः लोग इनका प्रथम ग्रन्थ भाव-विलास मानते हैं। इसका सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि इस ग्रन्थ का प्रणयन कवि ने १६ वर्ष की अवस्था में किया है—

शुभ सत्रह से छयालिस, चढ़त सोरही वर्ष।

और १६ वर्ष से पूर्व पुस्तक लिखी भी क्या जा सकती है? इसके अतिरिक्त देव ने भाव-विलास के अन्तिम दोहों की एक पंक्ति में स्वयं कहा भी है—

कढ़ी देव मुख देवता, भाव-विलास सहर्ष।

(प्रसन्नतापूर्वक भावविलास रूप में सरस्वती मुख से प्रकट हुई।)

इससे भी यही ध्वनि निकलती है कि भाव-विलास ही उनका प्रथम ग्रन्थ है। तीसरा प्रमाण यह भी दिया जा सकता है कि अपने प्रथम आश्रय-दाता के यहाँ उन्होंने भाव-विलास के साथ कोई ऐसी पुस्तक नहीं पेश की जिसके प्रणयन की सम्भावना भाव-विलास से पूर्व की जा सके। यदि इसके पूर्व उन्होंने कोई ग्रन्थ लिखा होता तो आज़मशाह या किसी अन्य के यहाँ इससे पूर्व ही अवश्य ले गए होते। ये तो हुईं भावविलास के प्रथम ग्रन्थ माने जाने के पक्ष की बातें। अब हम विपक्ष अर्थात् भाव-विलास के प्रथम ग्रन्थ न होने के प्रमाणों पर विचार कर सकते हैं। प्रथम और सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि यह ग्रन्थ इतना प्रौढ़ है कि किसी कवि का प्रथम ग्रंथ इसे नहीं कहा जा सकता। अपने प्रथम प्रयास में इतनी सुन्दर रचना कोई नहीं कर सकता। इसके उत्तर में विद्वानों ने कई दलीलें पेश की हैं। कुछ लोगों का कहना है कि बाद के जाति-विलास, देव-चरित तथा भवानी-विलास आदि ग्रन्थों के छन्दों से

को छोड़ प्राय: शृंगार के ही विविध अंगों का वर्णन किया है। अंतिम विलास में भी प्राय: सारे उदाहरण शृंगार रस से ही ओत-प्रोत हैं। इस प्रकार भाव-विलास को रस का ग्रन्थ कहें तो अत्युक्ति न होगी। ग्रन्थ-परिचय में कवि ने दिया भी है—

कवि देवदत्त शृंगार रस सकल-भाव-संयुत सँच्यो।
सब नायकादि-नायक-सहित, अलंकार-वर्णन रच्यो।

भाव-विलास में कुल पाँच विलास हैं। प्रथम विलास में क्रम से स्थायी भाव, विभाव और अनुभाव का वर्णन है। दूसरे विलास में सात्विक और सञ्चारी भावों का विवेचन है। सात्विक या शारीरिक के अन्तर्गत स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, तथा वेपथु आदि आठ[1] भेद माने हैं, तथा मानसिक या आंतरिक के अन्तर्गत ३४ भेद। ३३ तो वे ही है जो प्राय: सर्वत्र मिलते हैं पर ३४ वाँ छन्द नया है जो उन्होंने संस्कृत ग्रन्थ रसतरंगिणी से लिया है। छल की परिभाषा उनके अनुसार—

अपमानादिक करन कों, कीजै क्रिया छिपाव।
वक्र उक्ति अन्तर कपट सो बरनै छल भाव॥

देव ने वितर्क आंतरिक संचारी के विप्रपतिपत्ति, विचार, संशय और अध्यवसाय, ये चार भेद किये है। यह भी रसतरंगिणी का अनुकरण है।

तीसरे विलास में रस तथा हावों का वर्णन है। रस के देव ने लौकिक और अलौकिक दो भेद किये है। लौकिक के शृंगार, हास्य, करुणादि ६ भेद तथा अलौकिक के ३ भेद[2] (स्वापनिक, मानोरथ तथा

---

[1] स्तंभ, स्वेद, रोमांच, अरु वेपथु अरु स्वर भङ्ग।
विवरनता, आँसू, प्रलय ये सात्विक रस अंग॥ (भाव-विलास)

[2] कहत अलौकिक तीन विधि, प्रथम स्वापनिक भानु।
मानोरथ कवि देव अरु, औपनायक वखानु।

औपनायक) किए गये हैं। लौकिक के प्रथम भेद शृंगार के साधारणतया संयोग और वियोग दो भेद किये जाते हैं पर देव ने इन दोनों के भी प्रच्छन्न और प्रकाश दो दो भेद करके चार भेद कर दिये हैं। वियोग के अन्तर्गत दस दशाओं का तथा संयोग के अन्तर्गत दस हावों का भी वर्णन है। यह विलास भी पूर्णतया भानुदत्त की रसतरंगिणी पर आधारित है। केवल शृंगार के प्रच्छन्न और प्रकाश भेद इससे भिन्न हैं, पर यह भी देव की मौलिक उद्भावना नहीं। यहाँ उन्होंने भानुदत्त को छोड़ केशव का आश्रय लिया है।

चतुर्थ विलास में नायक, नायिका, सखी तथा दूती आदि का वर्णन है। यहाँ संस्कृत के रीति ग्रन्थों के अनुकूल नायक के चार तथा नायिका के ३८४ भेद किये गये हैं।

भाव-विलास का पाँचवाँ विलास अलङ्कारों का है। देव ने अलङ्कारों की संख्या ३९ मानी है। उनके अनुसार शेष सभी अलङ्कार इन्हीं के भेद-प्रभेद हैं। यह पाँचवा विलास अधिकांशतः केशव के अनुकरण पर है।

भाव-विलास में प्रधानतया दोहा और सवैया छन्दों का प्रयोग हुआ है। कहीं-कहीं कवित्त और छप्पय भी हैं। छप्पयों की संख्या अपेक्षाकृत बहुत कम है, सम्भवतः पूरे ग्रन्थ में चार-पाँच से अधिक बार उनका प्रयोग न हुआ होगा।

२. अष्टयाम

भाव-विलास के साथ ही या कुछ बाद का लिखा हुआ 'अष्टजाम' देव का दूसरा ग्रन्थ है। यह आकार में बहुत छोटा है और इसमें कुल १२९ छन्द हैं जिनमें ६५ दोहे, ३३ सवैया और ३१ कवित्त घनाक्षरी हैं।

भाव-विलास की भाँति अष्टयाम बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ नहीं है। इसका प्रधान कारण इसमें उत्कृष्ट छन्दों का अभाव है। प्रायः सर्वत्र वर्णनात्मकता का ही दर्शन होता है। देव का यह अभ्यास रहा है कि

वे पुराने ग्रन्थों के छन्दों को लेकर प्रायः कुछ नये छन्द जोड़कर नवीन ग्रन्थ बनाते रहे हैं, पर अष्टयाम की अनुत्कृष्टता के कारण ही हम देखते हैं कि इसके छन्द बाद के ग्रन्थों में नहीं के बराबर लिये गये हैं।

वैष्णव कलाकारों की यह परम्परा रही है कि वे अपने आराध्य के आठों प्रहरों का चित्र खींचते रहे हैं। देव ने यह ग्रन्थ भी उसी परम्परा में लिखा है। छपी पोथी के ऊपर तो लिखा है 'श्री देव कवि जी ने श्री राधा माधव के आठों पहर के विहार का अपूर्व वर्णन किया है।' पर भीतर के छन्दों में आरम्भ तथा एकाध स्थल और छोड़कर कहीं भी राधा माधव का नाम नहीं है। इसका आशय यह है कि देव ने वर्णन तो वैष्णव-कवियों की भाँति किया है पर विषय अलौकिक न होकर लौकिक ही है। देव ने स्वयं पुस्तक के दूसरे छन्द (दोहे) में कहा है—

दम्पतीनि के देव कवि बरनत विविध विलास।
आठ पहर चौंसठि घरी पूरन प्रेम प्रकास।

इस प्रकार पूरा ग्रन्थ शृंगार रस से ओतप्रोत है। वर्णन प्रातःकाल से आरम्भ होता है—

प्रथम जाम पहिली घरी पहिली सूर उदोत।
सकुचि सेज दम्पति तजे बोलत हंस कपोत॥

उठने के बाद ही एक दूसरे की शोभा देखकर दोनों 'हियलागि' कर 'हरखते' हैं। इसी प्रकार आठों यामों और उनकी घड़ियों का वर्णन किया गया है। केवल दूसरे याम की तीसरी घटी[1] छोड़कर जिसमें भोजन का उल्लेख है सर्वत्र विलास शृंगार और कामुकता की ही चकाचौंध है। कहना न होगा कि कवि ने उस समय के धनिकों के जीवन को ही इसमें चित्रित किया है।

---

[1] घरी तीसरी दूसरे पहर गहर जनि होइ।
भामिनि भोजन करन को अँचवति सखिनि सँजोइ।

में बहिर्साक्ष्य भी प्रायः मौन है। अन्तर्साक्ष्य में भी कोई स्पष्ट सूत्र नहीं मिलता। ऐसी परिस्थिति में अन्य बातों के सहारे ही कुछ कहा जा सकता है। इस सम्बन्ध में पहली बात तो यह है कि जिस भवानीदत्त को यह समर्पित किया गया था वे शायद उस समय तक राज्याधिकारी नहीं हुए थे और उनके पूर्व के राजा सीताराम का राज्यकाल सम्वत् १७५० से १८०० तक माना जाता है। आशय यह निकलता है कि उसी के बीच में भवानी-विलास की रचना हुई होगी। काव्य प्रौढ़ता की दृष्टि से भाव-विलास तथा अष्टयाम के बाद की यही रचना है और उक्त दोनों ग्रन्थों का रचना-काल १७४६ के लगभग है, अतः उसके बाद प्रायः १७५५ के लगभग भवानी-विलास का रचना काल माना जा सकता है। डॉ० नगेन्द्र भी रस-विलास, जाति-विलास तथा देव की देश-व्यापी यात्रा पर विचार करते हुए लगभग इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। और किसी लेखक ने इसके रचना-काल के समय-निर्धारण का प्रयास नहीं किया है। अतः यही समय माना जा सकता है।

भवानी-विलास यथार्थतः रस-ग्रन्थ है परन्तु रीतिकालीन अन्य कवियों की भाँति देव का भी प्रिय रस शृंगार ही रहा है तथा वे इसे ही रसराज एवं प्रमुख रस मानते रहे हैं अतः इसमें केवल शृंगार को ही प्रधानता दी गई है। इस दृष्टिकोण से भवानी-विलास को रस ग्रन्थ न कह शृंगार रस का ग्रन्थ कह सकते हैं। इसके प्रथम ७ विलासों में शृंगार तथा उसके अंगों का विस्तार के साथ वर्णन है तथा ८वें विलास में शेष आठ रसों का भेद-प्रभेद के साथ उल्लेख किया गया है।

पहले विलास में आवश्यक भूमिका के बाद सर्वप्रथम शृंगार रस की प्रमुखता का विवेचन किया गया है। कवि के अनुसार शृंगार से ही वीर और शांत रस उद्भूत हैं और इन्हीं तीनों से दो-दो रस, इस प्रकार शृंगार में ही नवों रस हैं—

भूलि कहत नव रस सुकवि सकल मूल सिंगार।
तेहि उछाह निरवेद लें बीर सान्त सञ्चार॥
ताते रस सिंगार कहि कहिहौं सांतौ बीर।
द्वै द्वै रस संग तिहुन के संयुत भाव सरीर॥

आगे शृंगार के आलम्बन, उद्दीपन, स्थायी, सञ्चारी एवं सञ्चारी के सात्विक और मानसिक भेदों का वर्णन है। भाव-विलास की भाँति यहाँ भी शृंगार रस के वियोग, संयोग तथा फिर दोनों के प्रच्छन्न और प्रकाश भेद किए गए हैं।

द्वितीय विलास में शृंगार का आधार नायिका का विवेचन है। नायिका के भेदों में स्वकीया तथा उसके आठ अंगों पर पहले विचार किया गया है, फिर पद्मिनी, चित्रिनी, संखिनी तथा हस्तिनी आदि का वर्णन करते हुए मुग्धा तथा मध्या आदि तथा परकीया और सामान्या का वर्णन है। इस विलास में नायिका का जाति तथा कर्मानुसार भी विवेचन है।

तीसरे विलास में अंशभेद के अनुसार नायिका वर्णन किया गया है। चौथे में 'मुग्धा के पूर्व रूप चारि भेद' तथा पूर्वानुराग और तज्जनित वियोग एवं अभिलाषादिक दस दशाओं का विवेचन है। पाँचवें विलास में मुग्धा के शेष पाँचवें भेद सलज्जरति, तथा मध्या और प्रौढ़ा के चारों भेदों का वर्णन है। छठें में मध्या की आठ अवस्थाओं तथा प्रौढ़ा के दस हावों का उल्लेख है। सातवें विलास में मध्या और प्रौढ़ा की मानावस्था, मान की उत्पत्ति, मान-मोचन उपाय, लघु, मध्य तथा गुरु मान एवं धीरा, अधीरा, धीरा-अधीरा, ज्येष्ठा, कनिष्ठा, गर्विता, (प्रेम, रूप तथा कुल), अन्य सम्भोगदु:खिता तथा ऊढ़ा-अनूढ़ा आदि का वर्णन है। इस विलास के अन्त में शृंगार के आलम्बन भाग को पूर्णता प्रदान करने के लिए नायकों के अनुकूल, दक्षिण, शठ तथा धृष्ट आदि भेदों पर विचार किया गया है। साथ ही नायक के

सखा एवं नायिका की सखी, दूती तथा धाय का अत्यन्त थोड़े में चित्रण है।

इस प्रकार प्रथम सात विलासों में शृंगार रस का सांगोपांग चित्र प्रस्तुत किया गया है।

जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं, आठवें विलास में शेष सात रसों का वर्णन है। वीर रस के युद्ध, दया और दान—तीन भेद, शांत रस के शरण्य और शुद्ध फिर शरण्य के प्रेम-भक्ति, शुद्ध-भक्ति और शुद्ध-प्रेम—तीन भेद, हास्य के उत्तम, मध्यम तथा अधम (३ भेद), और करुण के करुण, अति करुण, महा करुण लघुकरुण और सुखकरुण (५ भेद), किए गए हैं।

भाव-विलास के बहुत से छन्द भवानी-विलास में ज्यों के त्यों ले लिए गए हैं। अष्टयाम की भाँति इसमें भी दोहा, सवैया और घनाक्षरी इन्हीं तीन छन्दों का प्रयोग हुआ है।

४. शिवाष्टक

शिवाष्टक देव की सबसे साधारण रचना है। इसकी पुष्पिका—

'इति श्री देवदत्त विरचितं शंकर स्तोत्राष्टकं समाप्तम् सं० १७५५ ज्येष्ठ वदी ४।'

से स्पष्ट है कि इसका रचना काल सं० १७५५ है। अर्थात् भवानी विलास के आस-पास ही इसकी भी रचना हुई। कुछ विद्वानों को इसके देवकृत होने में सन्देह है पर मूलप्रति को देखने से यह शंका दूर हो जाती है। प्रति काफ़ी प्राचीन है और उस पर देव का नाम अङ्कित है। कुछ लोग इस आधार पर शंका करते हैं कि देव शिव के भक्त तो थे नहीं फिर उन्होंने शिवाष्टक लिखा तो क्यों? सत्य यह है कि तुलसी सूर की भाँति धर्म के बारे में देव की भी भावनाएँ बड़ी उदार थीं। जीवनी पर विचार करते समय हम उल्लेख कर चुके हैं कि उनके हाथ की स्थापित एक शिव मूर्ति आज भी उनके स्थान के पास है।

नायिका-भेद का ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की प्रधान विशेषता यह है कि इसमें स्वकीया नायिका को बहुत उठाया गया है और दूसरी ओर सामान्य और परकीया को बहुत बुरा कहा गया है—

> प्रगट भए परकीय अरु सामान्या को संग,
> धरम-हानि, धन-हानि, सुख थोरो, दुःख इकंग।
> उत्तम रस शृंगार की स्वकिया मुख्य अधार;
> ताको पति नायक कह्यो, सुख-सम्पति को सार।

जैसा कि ऊपर हम कह चुके हैं, प्रेम-तरंग के प्रायः सारे के सारे लक्षण भवानी-विलास से उठाकर रख दिए गए हैं, पर उदाहरणों में काफ़ी मौलिकता है। बाद के ग्रन्थों में अवश्य इसके अंश मिलते हैं पर पहले के ग्रन्थों के छन्द इसके उदाहरणों में नहीं मिलते।

६. कुशल-विलास

कुशल-विलास की रचना ज़िला इटावा के फफूँद निवासी शुभकर्ण के सुपुत्र कुशलसिंह सेंगर के लिए की गई थी। वहाँ की वंशावली के अनुसार कुशलसिंह का समय १८वीं शती उत्तरार्द्ध है। दूसरी ओर प्रेम-तरंग और कुशल-विलास को देखने तथा दोनों को आद्यन्त मिलाने से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी के आश्रय में न रहने पर स्वान्तः सुखाय प्रेम-तरंग की रचना की गई और फिर उसी को कुशल-विलास के रूप में संस्कृत कर दिया गया। सम्भव है प्रेम-तरंग की रचना के बाद ही देव को कुशलसिंह के पास जाना पड़ा हो और समयाभाव से उन्होंने पूर्णतः नवीन ग्रन्थ न रचकर उसी का संस्कार कर कुशलसिंह के नाम पर कुशल-विलास कर दिया हो।

फफूँद के वंश-वृक्ष और प्रेम-तरंग के बाद ही इसकी रचना, इन दोनों बातों से अनुमान यह निकलता है कि सं० १६६५ के आसपास इसका संस्करण या इसकी रचना हुई होगी।

कुशल-विलास लगभग ३०० छन्दों का एक बड़ा ग्रन्थ है। यह

देव के प्रथम श्रेणी के ग्रन्थों में है। इसमें कुल नव विलास हैं जिनमें नायिका-भेद का वर्णन किया गया है। प्रथम विलास में शृंगार रस, उसके अनुभाव, विभाव, सञ्चारी भाव (सात्विक तथा मानसिक) तथा नायक-नायिका भेद का वर्णन है। दूसरे विलास में स्वकीया की प्रतिष्ठा तथा परकीया की निन्दा की गई है। साथ ही पुरुष और स्त्री के प्रेम की नीचता और ऊँचता पर भी विचार किया गया है। देव ने उस काल के पतियों का अध्ययन किया था और शायद स्वयं भी वैसे ही रहे हों। उनका कहना है कि ज्यों ज्यों पत्नी की अवस्था गिरती जाती है पति का प्रेम उसके प्रति कम होता जाता है पर स्वकीया नायिका इतनी शुद्ध और प्रेमशील रहती है कि नायक के प्रति उसका प्रेम कभी भी कम नहीं होता। देव का यह विचार आज भी शायद बावन तोले पाव रत्ती सत्य है।

तीसरे विलास में परकीया और सामान्य के भेदादि का वर्णन है। चौथा विलास नायिका के जाति अंश पर आधारित भेदों एवं मुग्धा के सम्बन्ध में है। पाँचवें में मध्या एवं प्रौढ़ा के भेदों, छठें में मुग्धा की काम दशाओं, सातवें में मध्या की अवस्थाओं तथा आठवें में प्रौढ़ा के भावों का वर्णन है। अन्तिम नवाँ विलास धीरा-अधीरा, गर्विता एवं ज्येष्ठा-कनिष्ठा आदि का विवरण देता है।

ग्रन्थ की उत्तमता की बानगी देखने के लिए इसका एक छन्द यहाँ देख सकते हैं —

> अम्ब कुल, बकुल, कदम्ब मल्ली, मालती,
> सँभारन की भाँति कै, बृन्दावन की गली हैं;
> को गनै अगनित तरु, जी ज्यों जो कलपतरु
> ताको निकवार क्यों विकल मति अली हैं।
> तिन [illegible] बास नहिं चम्पक लगायो कौन,
> कौन गुन भौनि हौं सकुच चुप चली हैं;

कज्जल विचारे रुचि पाई चारु पन्नन में,
चम्पा वल्ली के गरे परसी चम्पकली हैं ।

७. जाति विलास

जीवनी पर विचार करते समय हम कह चुके हैं कि कुशलसिंह के यहाँ से जाने के उपरान्त देव ने एक देशव्यापी यात्रा की। इस यात्रा के अनुभवों के फलस्वरूप उन्होंने जाति विलास की रचना की। उस समय भी उन्हें कोई आश्रयदाता न मिला अतः इसकी रचना भी स्वांतः सुखाय ही की गई। इसके बाद के आश्रयदाता भोगीलाल १७८३ के लगभग मिले अतः १७६५ के बाद १५ वर्ष भी यदि यात्रा-काल रक्खें तो जाति-विलास का रचना काल १७८० के लगलग ठहरता है। इसके बाद का ग्रन्थ रस-विलास जो इसी का संस्कृत रूप है १७८३ में बना, अतः इस दृष्टि से भी जाति-विलास को १७८० की रचना मानना अनुचित नहीं ज्ञात होता।

जाति-विलास के वर्ण्य-विषय के सम्बन्ध में देव ने स्वयं लिखा है—

देवल सबल राजपुर नागरि तरुनि निवास।
तिनके लच्छन भेद सब बरनत जाति विलास ॥

(यह दोहा रस विलास में भी है।)

जाति-विलास में वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र), कर्म (माली, नाई, धोबी तथा अहीर आदि), तथा देश (कश्मीर, पर्वत, गुजरात आदि) के अनुसार नायिकाओं का वर्णन हुआ है। वर्णन में ऊपरी चित्र मात्र है। नवरत्न के लेखकों ने जाति-विलास को देव के सर्वोत्तम ग्रन्थों में माना है पर बात कुछ उलटी है। आचार्य शुक्ल ने ठीक ही लिखा है—'इस ग्रन्थ में भिन्न-भिन्न जातियों और भिन्न-भिन्न प्रदेशों की स्त्रियों का वर्णन है। पर वर्णन में उनकी विशेषताएँ अच्छी तरह व्यक्त हुई हों, यह बात नहीं है।'

उदाहरण के लिये सिंधु और गुजरात की स्त्रियों का वर्णन लिया जा सकता है—

वसुधा कों सोधिकैं, सुधारी वसुधारनि सौं
सरव सुधारनि सुधारस सुवेस की।
धरम की धरनी, धरा सी धाम धरनी की
धर धरनी की धन्य धन्यता धनेस की।
सिद्धन की सिद्धिसी असिद्धि सी असिद्धन की,
साधता की साधक सुधाई सुधावेस की।
सुधानिधि दानी सुधानिधि की सुसुद्ध विधि,
सिंधुरगवनि गुनि सिंधु सिंधुदेस की॥
छिति को सी छौनी रूप रासि सी इकौनी,
बिधि चाय सो रचौनी गोरी कुँदन से गात की।
देव दुति दूनी दिन दिन और हूनी
ऐसी अनहोनी कहूँ कोई गोरी दीप सात की।
रति लागै बौनी जाकी रम्भा रुचि बौनी
लोचननि ललचौनी मुखजोति अवदात की।
इन्दिरा अगौनी इन्दु इन्दीवर औनी,
महा सुन्दर सलौनी गजगौनी गुजरात की॥

इन दोनों चित्रों को देखिये। न तो प्रथम में सिंधु की किसी विशेषता का चित्र है और न तो दूसरे में गुजरात की। दोनों ही छन्द शब्दों के जाल मात्र हैं, जिनमें सामान्य सुन्दरी का चित्र है और केवल 'गुजरात' और 'सिंधु' दो शब्दों के द्वारा इन चित्रों को सिंधु और गुजरात का बना दिया गया है। कुछ स्थलों को छोड़कर प्रायः पूरी पुस्तक का वर्णन इसी प्रकार का है। पुस्तकांत में अष्टांगवती (यौवन, रूप, गुन, शील, प्रेम, कुल, वैभव और भूषण) नायिका का चलता सा वर्णन है।

८. रस-विलास

पिछले ग्रन्थ जाति-विलास का संशोधन कर तथा कुछ और नए छन्द जोड़कर रस-विलास की रचना की गई है। अन्तसांद्य के आधार पर इसका रचना काल सं० १७८३ है। इस ग्रन्थ का प्रणयन भोगीलाल के लिये किया गया था। देव ने भोगीलाल की इसमें बहुत तारीफ़ की है। इसका आशय यह निलकता है कि भोगीलाल ने रस-विलास को बहुत पसंद किया था तथा देव को यथोच्चित सत्कार दिया था।

अन्य ग्रन्थों की भाँति इसमें भी दोहा, सवैया और कवित्त छन्दों का प्रयोग हुआ है। ऊपर कहा जा चुका है कि जाति-विलास का ही संस्कार कर रस-विलास की रचना की गई। इस प्रकार इसके अधिक छन्द जाति-विलास से लिए गये हैं। शेष में बहुत से भवानी-विलास के हैं और इस तरह इस ग्रन्थ को प्रधानतः एक संग्रह ग्रन्थ ही कहना अधिक उच्चित होगा। ऐसी दशा में इसकी अप्रामाणिकता का तो प्रश्न भी नहीं उठता।

रस-विलास के आरम्भ का छंद जो जाति-विलास से लिया गया है, बड़ा सुन्दर है—

पायनि नूपुर मंजु बजैं कटि किंकिनि के धुनि की मधुराई।
साँवरे अंग लसै पट पीत हिये हुलसै बनमाल सुहाई।
माथे किरीट बड़े दृग चंचल, मन्द हँसी मुख चन्द जुन्हाई।
जै जगमन्दिर दीपक सुन्दर श्री ब्रजदूलह देव सहाई।

नाम से रस-विलास रस का ग्रन्थ ज्ञात होता है किंतु यहाँ सम्भवतः रस का अर्थ सरसता से है और पूरा ग्रन्थ नायिका-भेद का है। इतने विभिन्न दृष्टिकोणों से नायिकाओं का भेद तथा उनका वर्णन सम्भवतः विश्व के किसी भी कवि ने नहीं किया है।

ऊपर लिखित वंदना के बाद ही कवि ने नारी की महत्ता प्रतिपादित की है—

युक्ति सराही मुक्ति हित मुक्ति भुक्ति को धाम।
युक्ति मुक्ति अरु भुक्ति कौ भूल सु कहिये काम॥
बिना काम पूरन भए लगै परम पद छुद्र।
रमनी राका-ससि मुखी पूरे काम-समुद्र॥
तातें त्रिभुवन सुर असुर नर पसु कीट पतंग।
रच्छस जच्छ पिसाच अहि सुखी सबै तिय सङ्ग॥

रस-विलास में कुछ सात विलास हैं। आरम्भ में नारी के—

सो नारी कहुँ नागरी पुर वासिनि ग्रामीन।
बनसयना अरु पथिक तिय षट विधि कहत प्रवीन।

नागरी, पुरवासिनी, ग्रामीण, वनवासिनी, सैन्या और पथिक-वधू ये छः भेद और फिर इनके विभेद दिये गये हैं। ये भेद व्यवसाय एवं जाति-भेद पर आधारित हैं जिनमें 'जौहरिन, छीपनि, पटवनि, गन्धिनि, तेलिनि, तमोलिन, हलवाइनि, मोदिनि, कुम्हारिन, दरजिनि, चूहरी, गनिका, बाम्हनी, रजपूतानी, खतरानी, वैस्यानी, काइथनी, सुद्रनी, नाइनि, मालिनि, धोबिनि, अहिरिनि, काछिनि, कलारी, सुनेरी, व्याधतिय, भीलनी, तथा जोगिनि' आदि प्रधान हैं।

देव के अनुसार आठों अंगों से पूर्ण कामिनी ही नायिका कही जा सकती है। नारी विलास से इसका आरम्भ होता है। देव की नायिका

देव ने नायिकाओं के वर्गीकरण के लिये आठ[1] आधार भी बनाये हैं और इन आठों आधारों पर नायिकाओं के बहुत से भेद किये हैं। पाँचवें और छठे विलास में यही है। संक्षेप में उनके भेदों पर यहाँ दृष्टि दौड़ा सकते हैं :

१. जाति के आधार पर—पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी, हस्तिनी।
२. कर्म " " "—स्वकीया, परकीया, सामान्या।
३. गुण " " "—सात्विक, राजसिक, तामसिक।
४. देश " " "—अन्तर्वेद, मगध, कोशल पटना, उड़ीसा, कलिंग, कामरूप, बङ्गाल तथा वृन्दावन आदि २५ भेद किये गये हैं। इस आधार पर अनंत भेद किये जा सकते हैं।
५. काल " " "—स्वाधीनपतिका, कलहंतरिता, अभिसारिका, विप्रलब्धा, खंडिता, उत्कंठिता, वासकसज्जा, प्रोषितपतिका, प्रवत्स्यत्भर्तृका, आगतपतिका।
६. वय " " "—मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा।
७. प्रकृति " " "—कफ, पित्त, वात।
८. सत्व " " "—सुर, किन्नर, यक्ष, नर, पिशाच, नाग, खर, कपि, काग।

सातवें विलास में संयोग के दस हावों[2] तथा वियोग की दस

[1] जात कर्म गुन देश अरु काल वय क्रम जानु।
प्रकृत सत्व नायिका के आठों भेद बखानु।

[2] लीला और विलास भनि औ विच्छिति विलोकु।
विभ्रम किलकिंचित बहू मोट्टाइत बिब्बोकु।
कह्यौ कुट्टमित अरु विहृति ललित कह्यो दश हाव।
तिय के पिय संजोग में उपजत सहज सुभाव॥

दशाओं का वर्णन है। इनके उदाहरणों में केवल नौ हावों का ही चित्र है। भारत जीवन प्रेस की छपी पुस्तक में 'विहृति' का उदाहरण नहीं है।

देव ने इसी विलास में आगे चलकर वियोग की दस दशाएँ दी हैं और उन दशाओं में बहुतों के बहुत से भेद किये हैं—

१. अभिलाष	श्रवण, उत्कंठा, दर्शन, लज्जा, प्रेम।
२. चिंता	गुप्त, संकल्प, विकल्प।
३. स्मरण	स्वेद, स्तंभ, रोमांच, स्वर भंग, कंप, वैवर्ण्य, अश्रु, प्रलय। [सात्विक या संचारी भावों के अनुसार। भाव-विलास में कंप के स्थान पर सात्विकों में 'वेपथु' नाम है।]
४. गुण कथन	हर्ष, इर्ष्या, विमोह, अपस्मार।
५. उद्वेग	वस्तु, देश, काल।
६. प्रलाप	ज्ञान, वैराग्य, उपदेश, प्रेम, संशय, विभ्रम, निश्चय।
७. उन्माद	मदन, मोह, विस्मरण, विक्षेप, विक्षोह।
८. व्याधि	संताप, ताप, पश्चात्ताप।
९. जड़ता	भेद नहीं।
१०. मरण	भेद नहीं।

प्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित देवग्रन्थावली, प्रथम भाग (सम्पादक मिश्रबन्धु) में प्रेमचन्द्रिका प्रकाशित हो चुकी है। इसके भी देवकृत होने में सन्देह नहीं। भाव-विलास आदि पुराने ग्रन्थों के बहुत से छन्द इसमें मिलते हैं तथा इसके बहुत से छंद बाद के सुजान विनोद आदि ग्रन्थों में पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त शैली, नाम, विषय तथा भावना आदि से भी यह देव का ही ग्रन्थ सिद्ध होता है।

प्रेमचन्द्रिका में रचना-काल नहीं दिया हुआ है पर—

मरदनसिंह महीपसुत बैस बंस विद्योत।
करी सिंह उद्दोत को राधा हरि उद्दोत॥

से निष्कर्ष यह निकलता है कि उद्योतसिंह के राज्य-काल में इसका प्रणयन हुआ। उद्योतसिंह का समय १८वीं सदी का अन्तिम चरण है। ऊपर हम रस-विलास का रचनाकाल १७८३ कह चुके हैं, अतः प्रेमचन्द्रिका का रचनाकाल १७८६–६० के समीप मान सकते हैं।

प्रेमचन्द्रिका में देव के अन्य बहुत से ग्रन्थों की भाँति दोहा, कवित्त और सवैया छन्द का प्रयोग हुआ है। इसकी भाषा पीछे के सभी ग्रंथों से अधिक प्रौढ़ एवं आकर्षक है। भाव भी पहले की अपेक्षा अधिक पुष्ट तथा गम्भीर हैं। रीतिकाल के प्रतिनिधि कवि होते हुए भी देव ने यहाँ पूरे युग के विरुद्ध वासना की धूल से धूसरित प्रेम का तिरस्कार किया है और शुद्ध प्रेम की पताका फहराई है। विशुद्ध प्रेम के बिना सौन्दर्य को भी उन्होंने करियारी के फूल की तरह त्याज्य कहा है[1]—

ऊपर रूप अनूप अति अन्तर अंतक तूल।
इन्द्रायन के फल यथा करियारी के फूल॥

---

[1] यहाँ एक अंग्रेजी उद्धरण (संभवतः टैगोर का) याद आ जाता है —

Beauty find thyself in love, not in the flattery of the mirror.

जैसा कि नाम से स्पष्ट है प्रेमचन्द्रिका प्रेम का ग्रंथ है। ६० वर्ष की अवस्था तक आते-आते कवि ने प्रेम के अंतस् की सूक्ष्म गवेषणा के बाद उसका रग-रग पहचान लिया है और यहाँ जैसे प्रेम—भारतीय संस्कृति के सार प्रेम—की अंतरात्मा का सजीव चित्र खींचा है। सुयोग्य आलोचक डा० नगेन्द्र के शब्दों में 'रीति-बंधन से मुक्त होकर इसमें कवि के अनुरागी मन ने समग्रतः डूबकर प्रेम के गीत गाए हैं। इतना आवेग, इतनी तल्लीनता रीतिकाल में केवल घनानन्द को छोड़कर अन्य किसी भी कवि में अप्राप्य है। यहाँ वास्तव में प्रेम का वर्णन न होकर प्रेम की अभिव्यक्ति है—ऐसा प्रतीत होता है मानों कवि का सम्पूर्ण व्यक्तित्व पिघलकर बह उठा हो।'

प्रेमचंद्रिका में कुल चार प्रकाश हैं। प्रथम प्रकाश में प्रेम-रस, प्रेम-स्वरूप, तथा प्रेम-माहात्म्य का वर्णन करते हुए प्रेम और वासना का अंतर दिखाया गया है। दूसरे प्रकाश में प्रेम के प्रकारों का वर्णन है। देव के अनुसार प्रेम, सानुराग, सौहार्द, भक्ति, वात्सल्य और कार्पण्य—पाँच प्रकार का होता है। सानुराग का विशुद्ध पात्र मुग्धा है। सानुराग के शृंगार को वियोग-संयोग तथा इन दोनों को गूढ़ और अगूढ़ माना है। इस प्रकार यहाँ शृङ्गार के चार भेद किये गए हैं। तीसरे प्रकाश में मध्या और प्रौढ़ा का प्रेम वर्णित है। प्रेम के शेष चार भेद—सौहार्द, भक्ति, वात्सल्य और कार्पण्य चौथे प्रकाश में अवतारों की कथाओं के उदाहरणों के साथ दिए गए हैं।

प्रेमचन्द्रिका में मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा का अंतर भी समझाया गया है। जैसा कि ऊपर कह चुके हैं देव मुग्धा में ही प्रेम का शुद्ध स्वरूप मानते हैं। मध्या का प्रेम कलह के कारण और प्रौढ़ा का गर्वादि के कारण दूषित हो जाता है—

मुख्य प्रेम मुग्धा वधुनि पूर्वनुराग वियोग।
सो अनूढ़, ऊढ़ान, हू बर, उपपतिन अयोग॥

प्रेम कलह मध्या कलुप प्रौढ़ा मानन गर्व ।
गेग्व दोष्व नों मिलत नहिं प्रेम पोप सुख पर्व ॥

यह चीज साधारणतया संसार में देखी नहीं जाती। सम्भव है वृद्ध कवि के जीवन मे इस भावना का सम्बन्ध हो और अपनी पत्नी के परिवर्तनों को कवि ने यहाँ प्रतिफलित किया हो।

सुख सागर-तरंग को यदि निरा संग्रह ग्रन्थ तथा शब्द-रसायन को आचार्य देव का रीति-ग्रन्थ मान लें तो कवि देव का सर्वोत्तम काव्य-ग्रन्थ प्रेमचंद्रिका ही है।

१०. सुजान-विनोद

सुजान-विनोद का दूसरा नाम रसानंद लहरी है। विलासों के अंत में लिखित—

'इति श्री रसानन्द लहरी विलासे सुजान विनोदे कवि देवदत्त विरचिते' इसी ओर संकेत करता है। सुजान-विनोद के भी देवकृत होने में सन्देह नहीं। इसके लगभग आधे छन्द पुराने ग्रंथों से लिए गए हैं, तथा इसके अपने नवीन छन्द भी बहुत अंशों में बाद के 'सुख सागर-तरंग' आदि में हैं।

सुजान-विनोद किसी राजा के लिए लिखा गया था तथा इसका समर्पण किसी गुणी को किया गया था या नहीं, इस सम्बन्ध में बहुत विवाद है। एक ओर तो मिश्र बन्धुओं ने अपने हिंदी नवरत्न में—

'इसके (सुजान-विनोद) नाम से भ्रम हो सकता है कि यह सुजान नामक किसी व्यक्ति के वास्ते बनाया गया होगा, परन्तु ग्रंथ में किसी सुजान का नाम तक नहीं आया। अतः जान पड़ता है, यहाँ सुजान से विज्ञ मनुष्य का तात्पर्य है।'

लिखा है और दूसरी ओर डा० नगेन्द्र आदि इसे सुजानमणि नाम के रईस के लिए बना मानते हैं। इस विवाद का मूल कारण है सुजान-विनोद की प्रतियों का दो प्रकार का होना। कुछ प्रतियों में आरम्भ का समर्पण अंश नहीं है अतः उन पर आधारित विचार के अनुसार

'सुजान' नाम पुस्तक में नहीं आया है, पर दूसरी और कुछ प्रतियाँ[1] जो पूरी हैं उनमें सुजानमणि का स्पष्ट उल्लेख है—

रघु ज्यों मनु के वंश में, नृपति नरोत्तमदास।
ता सुत दशरथ ज्यों कियो, पातीराम विलास॥
पातीराम विलास निधि, प्रगट पुण्य को धाम।
तेहि सुत राय सुजान जू, ज्यों दशरथ के राम॥
राम सुजान सुजान मणि, धनि धनि धर्म विलास।
इन्द्र सकल कायस्थ कुल इन्दरप्रस्थ निवास॥

इसका आशय यह निकलता है कि सुजान-विनोद की रचना सुजान मणि के लिए, जो दिल्ली के कोई रईस थे, हुई थी। जिन प्रतियों में समर्पण नहीं है उन्हें अपूर्ण प्रति मानकर हम लोग इस ग्रन्थ का सम्बन्ध सुजानमणि से मान सकते हैं।

पेमचन्द्रिका के कुछ बहुत अच्छे छन्द सुजान-विनोद में ले लिए गए हैं पर सुजान-विनोद के अच्छे छंद जो बाद के ग्रन्थों में हैं प्रेम-चन्द्रिका में नहीं मिलते। इसका आशय यह है कि प्रेम-चंद्रिका के बाद इसकी रचना हुई है। ऊपर हम लोग प्रेम-चंद्रिका का रचना-काल १७८९-९० मान चुके हैं अतः इसे १७९० के दो चार वर्ष बाद १७९४ के आसपास मान सकते हैं।

सुजान-विनोद में कुल सात विलास हैं। प्रथम विलास में प्रेम का वर्णन है। इसके बाद दूसरे से पाँचवें तक चार विलासों में मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा का वर्णन है। देव ने षट् ऋतुओं को शृङ्गार, विनोद और विलास के आधार पर तीन वर्गों में रक्खा है। शिशिर और वसन्त शृङ्गार के लिए हैं, ग्रीष्म और वर्षा विनोद के लिए तथा शरद और हेमंत विलास के लिए। इतना ही नहीं अवस्थानुसार नायिका के तीन भेदों को भी उन्होंने इन त्रिवर्गों में अलग-अलग रख दिया है। उनके

[1] कुसमरा के पं० मातादीन तथा पं० गोकुलचन्द्र दीक्षित की प्रतियाँ

अनुसार मुग्धा शृङ्गार के योग्य, मध्या विनोद के योग्य तथा प्रौढ़ा विलास के योग्य है। इन्हीं विलासों में प्रसंगवशात् वियोग की अवस्थाओं, हावों, मान, उलाहना, गुप्त-वचन, सखी की उक्तियों, गुप्त गृह-संकेत तथा सुरति आदि का भी वर्णन है। इसके अतिरिक्त स्वाधीनपतिका, वासक-सज्जा, उत्कंठिता, खंडिता, कलहंतरिता, विप्रलब्धा, अभिसारिका, प्रोषितपतिका तथा आगतपतिका आदि के सुन्दर चित्र भी हैं। बिहारी ने स्नानोपरांत सरोवर से निकलती नायिका का चित्र बड़ा मनोहर खींचा है—

विहँसति सकुचति सी दिए कुच आँचर बिच बाँहि।
भीजे पट तट को चली, न्हाय सरोवर माहिं॥

पर सुजान-विनोद के पञ्चम विलास का चित्र और भी सुन्दर बन पड़ा है—

पीतरंग सारी गोरे अंग मिलि गई देव,
श्रीफल उरोज आभा आभा से अधिक सी।
छूटी अलकनि छलकनि जल बूँदन की,
बिना बेंदी बंदन बदन सोभा बिकसी।
तजि तजि कुंज पुञ्ज ऊपर मधुप गुञ्ज
गुंजरत मंजु रव बोले बाल पिक सी।
नीवी उकसाय नेकु नैनन हँसाय, हँसि,
ससिमुखी सकुचि सरोवर तें निकसी।

सुजान-विनोद के छठें और सातवें विलास में ऋतु-वर्णन है। ऋतु के साथ-साथ नायिकाओं के ऋत्वानुकूल चित्र भी बड़े सुन्दर हैं पूरे रीतिकाल में प्रकृति का प्रायः पृष्ठभूमि के रूप में ही चित्र मिलता है। केवल देव ही ऐसे कवि हैं जिनके कुछ छंदों में स्वतन्त्र प्रकृति सजीव रूप में मुस्कराती दिखाई देती है। सुजान-विनोद में पावस का चित्र हम देख सकते हैं जो शायद पूरे हिंदी साहित्य में अकेला है :

सुनि के धुनि चातक मोरनि की,
चहुँ ओरनि कोकिल कूकनि सों।

अनुराग भरे हरि बागनि में,
सखि रागत राग अनूकनि सों ।
कवि देव घटा उनई जुनई,
बन भूमि भई दल दूकनि सों ।
रँगराती हरी हहराती लता,
झुकि जाती समीर के झूकनि सों ॥

कहना न होगा कि सुजान-विनोद का उत्तरार्द्ध बहुत सुन्दर बन पड़ा है ।

११. शब्द-रसायन

शब्द-रसायन का दूसरा नाम काव्य-रसायन है । इसके भी देव-कृत होने में संदेह नहीं । प्रकाशों के अन्त में देव का नाम सर्वत्र दिया गया है । इसके अतिरिक्त रस-विलास, भाव-विलास तथा प्रेमचन्द्रिका आदि के बहुत से छंद इसमें ज्यों के त्यों मिलते हैं । शैली तथा विषय-विवेचन में भी इस पर महाकवि देव की छाप स्पष्ट है ।

आचार्य देव का यह सर्वोत्तम ग्रंथ है । कवि के रूप में भी इसमें उनका काफी प्रौढ़ रूप मिलता है । इस ग्रंथ का रचना काल ज्ञात नहीं होता । न तो यह ग्रंथ किसी को समर्पित है कि जिसके समय से इसका निर्णय हो और न इसमें निर्माण काल का कोई अन्य संकेत या उल्लेख ही है । यों पीछे सुजान-विनोद का रचना काल १७६४ के लगभग माना गया है और इसमें सुजान-विनोद के कुछ अच्छे अन्य ग्रंथों की भाँति छंद संग्रहीत हैं अतः इसका रचना काल १८०० के लगभग मान लेना अनुचित न होगा ।

शब्द-रसायन रीति ग्रंथ है । इसमें कुल ग्यारह प्रकाश हैं । प्रथम प्रकाश में मंगलाचरण के बाद काव्य की प्रशंसा करते हुए देव ने लिखा है—

ऊँच-नीच-तरु कर्म बस, चलो जात संसार ।
रहत भव्य भगवंत-जस, नव्य काव्य सुख-सार ॥

रहत न घर-वर, धाम धन, तरुवर, सरवर, कूप ।
जस-सरीर जग में अमर, भव्य काव्य रस-रूप ॥

आगे कवि रूपक रूप में काव्यांगों को देता है—

शब्द जीव तिहि अर्थ मनु रसमय सुजस सरीर,
चलत चहूँ जुग छंद गति, अलंकार गम्भीर ।

इन्हीं चीज़ों को समर्थ-काव्य के लक्षण के रूप में कवि ने आगे और अच्छी तरह सजाया है—

शब्द सुमति मुख ते कढ़ै लै पद वचननि अर्थ ।
छंद, भाव, भूषन सरस, सो कहि काव्य समर्थ ॥

इस संक्षिप्त भूमिका के बाद देव ने सर्वप्रथम पदार्थ-निर्णय का विषय लिया है। शब्द-शक्तियों के सम्बन्ध में उनका विचार है कि तीनों एक दूसरी से मिली जुली रहती हैं, केवल प्रधानता के कारण एक का नाम दिया जाता है। अभिधा, लक्षणा और व्यंजना—इन तीन सामान्यतः मानी जाने वाली शक्तियों के अतिरिक्त इन्होंने तात्पर्य नाम की एक चौथी शब्द शक्ति भी मानी है—

सुर पलटत ही शब्द ज्यों, वाचक व्यंजक होत,
तातपर्ज के अर्थ हूँ तीन्यो करत उदोत ।
तातपर्ज चौथो अरथ, तिहूँ शब्द के बीच,
अधिक, मध्य, लघु, वाच्य धुनि उत्तम मध्यम नीच ।

इस प्रकाश के अंत में लक्षणा और उसके भेदों का विस्तृत वर्णन है। द्वितीय प्रकाश के वर्ण्य-विषय के विषय में कवि ने स्वयं लिखा है—

सुद्ध भेद, तिहुँ वृत्ति के शब्द अर्थ समुझाइ,
अब संकीरन भेद तिहुँ, बरतन वृत्ति बनाय ।

संकीर्ण भेदों को भी हम कवि के ही शब्दों में देख सकते हैं—

सुद्ध अभिधा है, अभिधा में अभिधा है,
अभिधा में लच्छना है, अभिधा में व्यंजना कही,

मुद्ध लच्छना है, लच्छना में लच्छना है,
लच्छना में व्यंजना, लच्छना में अभिधा कहौ:
सुद्ध व्यंजना है, व्यंजना में व्यंजना है,
व्यंजना में अभिधा है, व्यंजना में लच्छना गहौ,
तातपरजारथ मिलत भेद बारह,
पदारथ अनंत, सबदारथ मते छहौ।

इस प्रकाश के अंत में तीनों शब्द-शक्तियों के मूल भेदों का वर्णन है :

अभिधा के मूल भेद[1]—जाति, क्रिया, गुण और यदृच्छा।
लच्छणा के मूलभेद[2]—कार्य-कारण, सदृशता, वैपरीत्य और आक्षेप।
व्यंजना के मूल भेद[3]—वचन, क्रिया, स्वर और चेष्टा।
इन भेदों पर भी अलग-अलग विचार किया गया है।

तीसरे प्रकाश का विषय रस-निर्णय है। देव रसवादी कवि थे। आरंभ में 'ताते काव्या मुख्य रस' आदि कहकर कवि ने काव्य में प्रधानता रस को दी है। आगे क्रमशः 'रस लच्छण', 'रस भेद', 'रस भाव', 'रस उत्पत्ति', 'सात्युकि'[4], तथा 'संचारी' पर प्रकाश डाला गया है। अन्त में अन्य ग्रंथों की भाँति यहाँ भी देव ने शृङ्गार को रसराज माना है, और उसके अंग-प्रत्यंग का विवेचन किया है।

चौथे प्रकाश में हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्‌भुत् तथा शांत रस तथा उनके भेदों का वर्णन है।

पाँचवें प्रकाश में पहले मित्र रस और शत्रु रसों का वर्णन है। साथ ही शत्रु रसों को भी कौशल द्वारा मित्र रस बना लेने पर विचार किया

---

[1] जाति, क्रिया, गुन, यद्रच्छा, चारौ अभिधा मूल।
[2] कारज कारन, सदृशता, वैपरित्य, आछेप।
[3] वचन, क्रिया, स्वर, चेष्टा, इनके जहाँ विचार।
[4] सात्विक

और अनुप्रास के न तो नागर तथा ग्रामीण भेद हैं और न तो उनका औरों की भाँति विवेचन ही है।

आठवें प्रकाश में 'चित्र काव्य' पर जिसे देव ने अधम काव्य माना है प्रकाश डाला गया है। यहाँ अनुप्रास, यमक तथा गूढ़ार्थ-प्रकटार्थ आदि चित्र एवं अंतर्लापिका आदि का विवेचन है।

नवाँ प्रकाश अर्थालंकारों का है। देव शब्दालंकारों को बहुत अच्छा नहीं समझते थे पर अर्थालंकारों की अनिवार्यता उनको अवश्य मान्य थी। इस प्रकाश के आरंभ में ही वे कहते हैं—

कविता कामिनि सुखद प्रद, सुवरन सरस सुजाति।
अलङ्कार पहिरे अधिक अद्भुत रूप लखाति।

पीछे हम देख चुके हैं कि भाव-विलास में कवि ने मुख्य उनतालिस अलङ्कार माने हैं—

'अलङ्कार मुख्य उनतालिस हैं देव कहैं,'

शेप सभी उन्हीं के भेद-विभेद हैं—

'इन्हीं के भेद और विविध बताइए।'

शब्द-रसायन में मुख्य अलङ्कार ४० माने गए हैं और इनके अतिरिक्त ३० गौण अलङ्कारों का भी विवेचन है। इस प्रकार अलङ्कार—अर्थालङ्कार—के मुख्य और गौण पहले दो भेद किए गए हैं, और फिर क्रमशः दोनो के चालिस और तीस भेद किए गए हैं—

मुख्य गौन बिधि भेद करि है अर्थालङ्कार,
मुख्य कहो चालीस बिधि, गौन सुतीस प्रकार।

वे यह भी मानते हैं कि इन मुख्य और गौण के मिश्रण से अलङ्कारों के अनंत भेद सम्भव हैं।

मुख्य अलङ्कारों में भी उपमा और स्वभावोक्ति सबसे मुख्य और मूल अलङ्कार हैं—

अलङ्कार में मुख्य हैं उपमा और सुभाव।

यों तो इसमें काफ़ी अलङ्कार आ गए हैं पर प्रारम्भ के कुछ अलङ्कारों को छोड़ शेष का एक प्रकार से नाम ही भर गिनाया गया है। उसे पढ़कर कोई अलङ्कारों का ज्ञान प्राप्त करना चाहे तो सम्भव नहीं।

अन्तिम दसवें और ग्यारहवें प्रकाश में पिंगल वर्णन है। मात्रिक और वर्णिक दो भेद कर गणों पर विचार किया गया है। आगे देव ने वर्ण वृत्त के भेद किए हैं। उनके अनुसार गद्य 'बिना चरन को काव्य' है। देव का गद्य का उदाहरण देखने ही योग्य है। केवल अनेक विशेषणों की माला गूँथ कर 'वृन्दावन विहारण' की 'जय-जय' की गई है। गद्य के वृत्ति, चूर्ण और उत्कलिका तीन भेद किए हैं पर न तो किसी का लक्षण दिया गया है और न तो उदाहरण।

इन दोनों प्रकाशों में मुख्य-मुख्य वर्णिक और मात्रिक छन्दों के लक्षण उदाहरण दिए गए हैं। छन्द मञ्जरी या वृत्त रत्नाकर आदि संस्कृत ग्रन्थों की शैली पर यहाँ देव ने एक ही छन्द में लक्षण और उदाहरण दिए हैं। गणों के क्रम से छन्द वर्णन का यहाँ सम्भवतः प्रथम प्रयास किया गया है। सवैयों के वर्णन में देव ने सचमुच कमाल किया

है। केवल भगण के सहारे आठों प्रकार के प्राचीन सवैयों के लक्षण एक सवैये में कहे गए है—

सैल भगा, वसुभा, मुनि भागग, सात भगोल, लसै लभगा;
लै मुनि भागग, ही लल सत्त भगी, ललसात भगंग पगा।
पी मदिरा, व्रजनारि कीरिटि, सुमालति चित्रपदा भ्रमगा,
मल्लिक, माधवि, दुर्मिलिका, कमला सुसवैया वसुक्रमगा।

[भगण = गुरु, लघु, लघु]

इसे और स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है—

मदिरा—सैलभगा = सात भगण + एक गुरु
किरीटी—वसुभा = आठ भगण
मालती—मुनि भागग = सात भगण + दो गुरु
चित्रपदा—सात भगोल = सात भगण + एक लघु
मल्लिका—लसै लभगा = एक लघु + सात भगण + एक गुरु
माधवी—लैमुनि भागग = एक लघु + सात भगण + दो गुरु
दुर्मिलिका—लल सत्त भगी = दो लघु + सात भगण + एक गुरु
कमला—लल सात भगंग = दो लघु + सात भगण + दो गुरु

इनके अतिरिक्त मञ्जरी, ललिता, सुधा और अलसा—चार नवीन सवैये भी दिए गए हैं।

छंद वर्णन में देव ने घनाक्षरी में एक नया प्रयोग किया है जिसके कारण छंद-साहित्य में उनका नाम अमर है। इनकी बनाई ३३ वर्णों की घनाक्षरी आज तक 'देव घनाक्षरी' के नाम से प्रसिद्ध है।

शब्द-रसायन में पीछे के सभी ग्रंथों के अच्छे-अच्छे छन्द हैं पर भाव-विलास और रस-विलास के छन्द अधिक हैं। प्रौढ़ और अनुभवपूर्ण हो जाने के कारण इस ग्रन्थ में देव ने व्यर्थ की उड़ान नहीं ली है। भाव-विलास में 'छल' नामक संचारी भाव मानकर सञ्चारियों की संख्या ३४ कर दी गई थी पर यहाँ केवल ३३ ही दिए गए हैं। नायिका-भेद का विचार भी व्यर्थ समझकर प्रायः छोड़ दिया गया है।

यों तो रीतिकाल में जितने भी रीति ग्रन्थ लिखे गए, कोई भी ऐसा नहीं है जिसमें विषय का सम्यक् और वैज्ञानिक विवेचन हो, पर कुछ ग्रन्थ जो अपेक्षाकृत अच्छे और कुछ पूर्ण हैं शब्द-रसायन की ही श्रेणी के हैं। इस प्रकार शब्द-रसायन का उस काल की उस विषय की रचनाओं में एक महत्वपूर्ण स्थान है।

१२. देव-चरित्र

वयोवृद्ध देव ने, शब्द-रसायन के प्रणयन के बाद जैसे रीतिकालीन नग्न (?) शृंगार एवं रीति-विवेचन से छुट्टी ले ली, और बिना वानप्रस्थी बने ही सन्यासावस्था समीप आने के कारण वीतराग होने लगे। इस वीतरागावस्था के प्रथम चिह्न हमें देव-चरित्र में मिलते हैं। इस अवस्था का प्रथम ग्रन्थ देव-चरित्र मानने के लिए हम लोगों के पास यथेष्ट प्रमाण हैं। जीवन के प्रथम चरण से इस तृतीय चरण तक कवि कृष्ण को नायक के रूप में देखता आया था। और इस ग्रन्थ में भी उसके कुछ चित्र हैं। शायद इस क्षेत्र में उतरने पर भी अभी अधिक समय न बीतने के कारण कवि का हृदय इतना उन्मुक्त न हो सका था कि उसे पूर्णतः भूल सके। इसके अतिरिक्त देव के अन्य वैराग्यपूर्ण ग्रन्थों की तुलना में यह ग्रन्थ अपरिपक्व भी है जो इसके आरम्भिक ग्रन्थ होने की ओर ही संकेत करता है। अनुमानतः इसका रचना-काल सं० १८१० के लगभग माना जा सकता है।

देव चरित्र १५० छन्दों का ग्रन्थ है, जिसमें १० छन्द पुराने ग्रन्थों के हैं। ग्रन्थ प्रकाश या विलास आदि में बँटा नहीं है। श्रीकृष्ण जन्म, ब्रज सौभाग्य, बकी और तृणावृत्त संहार, यशोदा-वात्सल्य, माखन-चोरी, वृंदावन जाना, बकासुर तथा कालयवन-वध, काली-दमन, चीर-हरण, गोवर्धन-धारण, रास, अक्रूर का आना और कृष्ण का मथुरा जाना, रजक-दण्ड, कुब्जा-मिलन, द्वारका-गमन, रुक्मिणी-सत्यभामा से विवाह, सोलह सहस्र रानियों का उद्धार तथा उन्हें पत्नी रूप में ग्रहण,

तथा महाभारत कथा में योग आदि इस ग्रन्थ के क्रमशः प्रधान विषय हैं।[1]

देव-चरित्र साधारणतः अच्छा ग्रंथ है; यद्यपि देव जैसा कुशल कलाकार इसे और सुन्दर बना सकता था।

१३. देव-माया प्रपंच नाटक

देव-माया-प्रपञ्च नाटक के देवकृत होने में कुछ लोगों को संदेह है। शुक्लजी ने अपने इतिहास में देव के ग्रंथों की गिनती में इसे स्थान नहीं दिया है। अभी कुछ दिन पूर्व तक इस ग्रंथ का पता नहीं था, पर अब इसकी दो प्रतियाँ उपलब्ध हैं। इसके देवकृत होने के सम्बन्ध में निम्न बातें कही जा सकती हैं—

१. देव के प्रामाणिक ग्रंथों (शब्द-रसायन आदि) के कुछ छंद अन्य ग्रंथों की भाँति इसमें भी मिलते हैं। शायद विषय की नवीनता के कारण ही देव अपने पुराने ग्रंथों से अधिक छंद नहीं ले सके थे, अन्यथा अपने प्राचीन अभ्यासानुसार अवश्य लिये होते।

२. शैली, भाषा तथा विचार आदि पर कवि की स्पष्ट छाप है।

३. ग्रंथ के अंत में—

हर्दे वर्मा कवि देव के सतसंगति को पाय।

में कवि ने अपना नाम स्पष्ट कर दिया है।

४. ग्रंथ के नाम में भी कवि ने अपना नाम रख दिया है।

इसके विरुद्ध कोई ऐसी बात नहीं है जो इसके देवकृत होने में सन्देह प्रकट करे अतः यह देवकृत माना जा सकता है।

देव-चरित्र की अपेक्षा देव-माया प्रपञ्च की शैली अधिक प्रौढ़ है तथा भाव अधिक गम्भीर हैं, अतः इसे अनुमानतः १८१२ के आस-पास की रचना मान सकते हैं।

इस नाटक में कुल छः अङ्क हैं। प्राचीन नाटकों की भाँति यह भी

[1] देव और उनकी कविता—डा० नगेन्द्र

आद्यन्त पद्य में लिखा गया है। पहले अङ्क में नान्दीपाठ तथा सूत्रधार-प्रवेश के बाद बुद्धिवाला विलाप करती आती है और जनश्रुति उसका परिचय देती हैं। फिर कलियुग का प्रवेश होता है। दूसरे अङ्क में कलि के पक्षवालों (कलह तथा कलङ्क) का मिलन, उनका आपस में परामर्श तथा बुद्धि और सत्संगति के मिलन के सम्बन्ध में उनकी बातचीत हैं। अंत में दृश्य बदलता है और सत्संगति के यहाँ बुद्धि तथा जनश्रुति जा पहुँचती हैं। तीसरे अङ्क में योग, मुक्ति, सत्क्रिया, सत्यता, श्रद्धा, भक्ति, शुद्धि, स्मृति, तत्व-चिंता, शांति, करुणा, तुष्टि और क्षमा भी सत्संगति के यहाँ पहुँचती हैं। इस प्रकार उस पक्षवालों का वहाँ एक दरबार-सा लगता है। कुछ अन्य वर्णनों के बाद जनश्रुति वेष बदलकर विपक्षी माया के यहाँ जासूसी करने जाती है। चौथे में जनश्रुति निरीक्षण करती है। पाँचवें अङ्क में जनश्रुति के सौंदर्य पर भोग, संभोग, सहज, इच्छा, लिंग, आत्मा तथा विषय आदि अनेक लोग मुग्ध होते हैं तथा उसे अपने सम्प्रदाय में लाने के लिये उपदेश देते हैं। धूर्तराज तंत्र, मंत्र, इंद्रजाल, तथा वाग्जाल आदि की उसे शिक्षा देते हैं और माया की स्तुति के बाद छठे अङ्क का आरम्भ होता है। इसमें मन का राज्यारोहण, सत्संगति के सेनानी शांतानन्द के दूत का उनके पास आना, तर्कमन के भ्रम को दूर करना, माया का अहङ्कार को राजा बनाकर सत्संगति पक्ष से युद्ध के लिये योजना तथा अंततः माया का हारना और पूर्ण पुरुष का बंधन-मुक्त होकर मन-बुद्धि-प्रकृति से उसका संयोग आदि वर्णित हैं।

मूल कथा डा० नगेन्द्र के शब्दों में इस प्रकार है—

"परं पुरुष की दो पत्नियाँ हैं—एक प्रकृति और दूसरी माया। प्रकृति से बुद्धि का जन्म होता है और माया से मन का। मन पर माया का प्रभाव इतना बढ़ जाता है कि वह पिता, विमाता, बहिन तीनों से विद्रोह कर बैठता है। परं पुरुष माया का बंदी बन जाता है। बुद्धि भी इस यंत्रणा से क्षुब्ध होकर भटक जाती है। कुछ समय इधर-उधर भटकने के उपरांत वह जनश्रुति के उपदेश से सत्संगति से मिलती है।

भिन्न धर्म पक्ष और अधर्म पक्ष में युद्ध होता है। परन्तु तर्क को गुरु मंत्रणा से मन का मोह पहिले ही दूर हो जाता है। वह माया के फंदे से छूटकर बुद्धि से और फिर अपने पिता से मिलता है। उधर अधर्म पक्ष की पूर्ण पराजय होती है। माया के बंधन से पर पुरुष मुक्त हो जाता है। अन्त में प्रकृति, मन और बुद्धि सब का पर पुरुष से संयोग हो जाता है।"

प्रस्तुत पुस्तक पर कृष्ण मिश्र के प्रबोध चन्द्रोदय का कुछ प्रभाव पड़ा है। यद्यपि प्रतिपाद्य विषय या पात्रादि मूलतः तथा पूर्णतः एक नहीं हैं पर शैली एवं शंकर के मायावाद पर आधारित होना आदि कुछ बातें अवश्य मिलती-जुलती हैं। इसे मिश्र बन्धुओं ने अपने नवरत्न में 'इसे अर्द्ध-नाटक-सा कह सकते हैं' कहते हुए अर्द्ध नाटक माना है, पर सत्य यह है कि यह पद्य-बद्ध नाट्य-रूपक है और उस दृष्टि से वह प्रायः सफल है। इसमें प्रधानता सिद्धान्त की है जो पर्याप्त स्पष्ट है। वेदान्तानुसार पूर्ण पुरुष भी माया के फंदे में फँस जाता है पर जब सत्संग आदि के कारण बुद्धि परिष्कृत होती है तो माया मोह का पर्दा फटता है और पुरुष अपने चित् स्वरूप को पुनः प्राप्त करता है।

इसकी भाषा एवं शैली में भी कोई खटकनेवाली शिथिलता नहीं है। सैद्धांतिक नाट्य रूपक होने के कारण कार्य का अभाव तो स्वाभाविक ही है।

१४. प्रेम-पचीसी

रस-विलास के कुछ उद्धरणों के आधार पर विद्वानों का मत है कि प्रेम-पच्चीसी नामक कोई रचना रस-विलास के पूर्व की है। पर अब इस वृद्धावस्था में कवि ने उसका वैराग्यपरक संस्कार किया तथा भवानी-विलास एवं प्रेम-चन्द्रिका से कुछ छंद लेकर तथा कुछ नवीन जोड़कर यह एक नवीन ग्रन्थ बनाया। इसमें प्रेम की कुछ अवस्थाओं तथा गोपियों के प्रेम आदि का वर्णन है। जैसा कि नाम से स्पष्ट है इसका प्रतिपाद्य विषय 'प्रेम' ही है। इसके देवकृत होने में सन्देह नहीं क्योंकि बहुत से

छन्द उनके प्रामाणिक ग्रन्थों के हैं तथा शेष की शैली आदि भी देव से भिन्न नहीं है। अनुमानतः यह १८१२ के कुछ बाद की रचना है।

१५. जगदर्शन-पच्चीसी

वृद्ध कवि संसार के बाह्य को देखते-देखते थक गया था, अतः अब भीतर के दर्शन की ओर उसका अभिमुख होना,स्वाभाविक ही था। वृद्धावस्था में कवि फुटकल छन्द लिख रहा था। इसमें कुल २६ छन्द हैं, जिनमें शुद्ध विराग की बड़ी स्वाभाविक एवं सफल अभिव्यक्ति हुई है। भाषा, भाव तथा शैली से यह भी स्पष्टतः देव का ही ग्रन्थ है। इसकी रचना भी १८१२ के बाद अर्थात् १८१५ या १६. के लगभग की होनी चाहिये।

१६. आत्म दर्शन-पच्चीसी

उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों की भाँति यह भी उसी समय (१८१६ के लगभग) की मुक्तक रचना है। इसमें भी वैराग्य की भावना कूट-कूट कर भरी है। भाषा-भाव की दृष्टि से इसके भी देवकृत होने में शङ्का के लिये स्थान नहीं।

१७. तत्व-दर्शन-पच्चीसी

यह ग्रन्थ भी भाषा, भाव, शैली तथा परिमाण में उपर्युक्त ग्रंथों-सा ही है। इन चारों पच्चीसियों को मिला कर देव-शतक कहा जाता है। कुछ लोगों ने इन चारों को वैराग्यशतक भी कहा है। इस शतक का देव के ग्रंथों में महत्वपूर्ण स्थान है। देव माया-प्रपञ्च नाटक में सिद्धांतवादिता का प्राधान्य हो गया है पर इन फुटकल रचनाओं में कवि का व्यष्टि उठकर समष्टि में मिल गया है तथा उसके अनुभव की अग्नि में गलकर सिद्धांत सरल होकर काव्य-रूप में बह निकला है। इस कारण तन्मयता से ओतप्रोत ये रचनाएँ अपने क्षेत्र में अद्वितीय हैं। कवि का वृद्ध तथा गम्भीर व्यक्तित्व यहाँ अपने पूर्णरूप में प्रकट हुआ है। १८१० से १८२० तक का समय ही इन शतकों का समय है और ये ही कवि के

सम्भवतः अन्तिम उल्लास है। अन्त में शतक का एक छन्द देखकर हम आगे बढ़ सकते हैं :

> जप में न, तप में न, तीरथ के पंथ में न,
> पोथी में न, पाठ में, न पाठ की प्रतीति में।
> जटा में न, मुंडन में, न तिलक त्रिपुण्डन में न,
> नदी-कूप-कुंडन अन्हान दान रीति में।
> पीठ-मठ-मण्डल न, कुण्डल कमण्डल न,
> माला दण्ड में न 'देव' देहरे की भीति में।
> आपु ही अपार पारावार प्रभु पूरि रह्यो
> पाइए प्रगट परमेसुर प्रतीति में।

१८. सुखसागर-तरंग

देव का प्राप्त अन्तिम ग्रन्थ यही है। जाति विलास, भाव विलास, अष्टयाम आदि देव के सभी प्रधान ग्रन्थों से कविताएँ इसमें ली गई हैं तथा अन्त[1] में देव का नाम भी आया है अतः इसके देवकृत होने में संदेह नहीं।

जैसा कि अन्त में देव ने स्वयं 'श्री खान साहेब अली अकबर खान का हेतं देवदत्त कवि रचिते श्रृंगार सुखसागर तरङ्ग संग्रह' लिखा है, यह एक संग्रह ग्रन्थ है। मिश्र बन्धुओं ने लगभग २०० छंदों के मौलिक होने के कारण इस ग्रन्थ को मौलिक माना है। उनका कहना है कि अन्य ग्रन्थों से तो सभी ग्रन्थों में प्रायः छंद लिये गये हैं अतः इस आधार पर इसे संग्रह ग्रन्थ मानना ठीक नहीं। कहना ठीक भी है। डा० नगेन्द्र इसके विरुद्ध लिखते हैं कि मिश्रबन्धुओं का इसे मौलिक ग्रन्थ मानना ठीक नहीं क्योंकि इतनी अवस्था में कवि से मौलिक ग्रंथ की आशा नहीं की जा सकती है। डा० नगेन्द्र का यह कथन बहुत तथ्यपूर्ण नहीं ज्ञात होता। जब लगभग इसी अवस्था में बर्नर्ड शा लिखते रहे हैं तो देव के

---

[1] देखिये अगला परिच्छेद।

काव्य-प्रेमी का इस संग्रह ग्रन्थ से सम्मान किया हो। इन दो के अतिरिक्त एक तीसरी सम्भावना भी असम्भव नहीं ज्ञात होती। यह भी हो सकता है कि रस-पंथ-विशारद, काव्य मर्मज्ञ अकबर अली खाँ युवराज रूप में ही वृद्ध कवि की इधर १०–१५ वर्षों से यथासाध्य सहायता करते रहे हों और विरक्त कवि कभी-कभी इस संग्रह का कार्य करता रहा हो तथा कुछ नए छन्द भी जोड़ता रहा हो जिन सब का समर्पण उसने राज्यारोहण के समय किया हो। इस अनुमान के मान लेने पर नवीन छन्दों के अन्य ग्रन्थों से लिए जाने की कल्पना की भी आवश्यकता नहीं पड़ती तथा इसे संग्रह ग्रंथ मानने में भी कोई बाधा नहीं पड़ती, क्योंकि ८५६ छन्दों का ग्रन्थ डेढ़-दो सौ नवीन छन्दों के कारण मौलिक नहीं कहा जाकर संग्रह ही कहा जायगा। सत्य तो यह है कि वे नवीन छन्द प्रायः सर्वत्र इस संग्रह को एकसूत्रता प्रदान करने के लिए ही लिखे गए जान पड़ते हैं। इसके साथ ही इसे ठीक मान लेने पर इस आयु में २८–३० वर्ष बाद फिर पुराने पथ को अपनाने का भी प्रश्न नहीं उठता। हाँ, ऐसी अवस्था में 'शतक' को अंतिम ग्रन्थ न मानकर इसी को मानना होगा।

सुख सागर-तरङ्ग में कुल १२ अध्याय हैं। जैसा कि आरम्भ की वंदना से ही स्पष्ट है इसका प्रधान विषय शृङ्गार है:—

माया देवी नायिका, नायक पूरुष आपु ;
सबै दम्पतिन में प्रगट, देव करैं तेहि जापु।

पहले अध्याय में इस दम्पति-वंदना के उपरांत सरस्वती, गौरी, जानकी तथा रुक्मिणी आदि की वंदना है। फिर देवियों के सौभाग्य एवं श्री-पञ्चमी-महोत्सव आदि हैं। दूसरे में विभाव, अनुभाव के वर्णनोपरांत अष्टयाम का चित्रण है पर इस अध्याय में वह संध्या तक आकर समाप्त हो जाता है। तीसरे अध्याय में अष्टयाम का शेष भाग समाप्त होता है। साथ ही नख-शिख आदि का भी वर्णन है। चौथे अध्याय में पीछे के ग्रन्थों के नायिकाओं के अष्टांग तथा चार जाति-

भेद दिए गए हैं। इसके बाद के सभी अध्याय नायिका-भेद को समर्पित हैं। यह वर्णन इतने विस्तार के साथ दिया गया है कि डा० नगेन्द्र जैसे संयत आलोचक ने इस ग्रंथ को 'नायिका-भेद का एक विश्व-कोष' कहा है। मिश्र बन्धुओं ने, मानस, सूरसागर तथा बिहारी सतसई को छोड़कर हिंदी के और किसी ग्रंथ को सुख-सागर-तरङ्ग जैसा उत्कृष्ट नहीं माना है। सचमुच युग के श्रेष्ठतम कवि द्वारा स्वचयित अपनी समस्त उत्कृष्ट कविताओं का संग्रह होने के कारण उस आचार्य कवि का यह अभूतपूर्व संग्रह है। इसे देव-साहित्य का तत्त्व कहें तो अत्युक्ति न होगी।

आ. जिनके रचना-काल का पता नहीं है—

१. राग रत्नाकर

देव के नाम पर एक राग रत्नाकर नामक ग्रंथ भी मिलता है। इसके देवकृत होने में सन्देह नहीं। शैली पर देव की बहुत स्पष्ट छाप है, तथा अध्यायों के अंत में अन्य ग्रंथों की भाँति इसमें भी देव का नाम है।

डा० नगेन्द्र ने राग रत्नाकर का रचना काल १७६५ और १८०० के बीच माना है। पर, इस अनुमान के लिए उनके पास कोई ऐसा आधार नहीं दिखलाई पड़ता जो विश्वसनीय हो। ऐसी दशा में इस सम्बन्ध में कुछ कहना समीचीन नहीं ज्ञात होता।

काव्य-पारंगत आचार्य कवि देव की काव्य के साथ-साथ सङ्गीत में भी अच्छी गति[1] थी। प्रस्तुत ग्रंथ में उसी गति का एक सुन्दर चित्र है।

राग-रत्नाकर में दो अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में भैरव, माल-

[1] मिश्र बन्धुओं ने किसी कुशल संगीतज्ञ विदादीन से प्रस्तुत ग्रंथ की शुद्धता की जाँच करवाई थी, जिसमें ग्रंथ यथेष्ट संतोषप्रद सिद्ध हुआ।

कौस, हिंडोल, दीपक, श्री और मेघ—इन छः रागों तथा प्रत्येक की पाँच-पाँच भार्याओं (भैरव—भैरवी, बरारी, मधुमाधवी, सिंधवी और बङ्गाली; मालकौस—टोड़ी, गौरी, गुणकरी, खम्भावती और कुकुभ; हिंडोल—रामकरी, देसाख, ललित, विलावल, और पटमञ्जरी; दीपक—देशी, कामोद, नट, केदारा और कान्हरो; श्री—मालसिरी, मारू, धनाश्री, बसंत और आसावरी; मेघ—मलारी, गूजरी, भूपाली, देशकारी और टंक), रागों की नामउत्पत्ति, ऋतुओं से सम्बन्ध, दिन के विभिन्न प्रहरों में रागों की अनुकूलता, भार्याओं के रूप आदि का बड़ा सुंदर वर्णन है।

द्वितीय अध्याय अध्याय न होकर परिशिष्ट-सा है। उसमें तेरह उपरागों का नाम मात्र दिया गया है।

कवि और आचार्य देव यहाँ भी छिप नहीं सके हैं। राग-रागिनियों के रूप, स्वर-लक्षण, गाने का समय आदि रागों से सम्बद्ध सारी ज्ञातव्य बातें तक छंद में रख दी गई हैं। बरारी का उदाहरण हम देख सकते हैं—

उज्जल चीर सिही झलकै अँग कञ्चन से सित कंचुकि छाजै,
चीकने केस छुटी अलकैं मुख की उपमा लखि कै ससि लाजै।
सारद घोस मध्याह्न के ऊपर जापि धनी सों रँगी सुख साजै,
चौंर लिए कर कंकन पूरन भैरवी प्यारी बरारी बिराजै।

सभी लक्षण छंदों में 'सुरङ्ग मैं प्यौ धनी' की पूरी या अधूरी, उलटी या सीधी आवृत्ति हुई है, जिसमें राग या रागिनी विशेष के स्वरों का निर्देश है।

काव्य की दृष्टि से भी यह ग्रंथ अच्छा है। विशेपतः रागों के स्वरूप-चित्रण में देव की सुपरिचित चित्रकारिता के बड़े सुन्दर नमूने मिलते हैं।

२. '?'

पण्डित मातादीन के पास देव के किसी ग्रंथ की खंडित प्रति मिली

है, जिसमें लगभग ८० छंद हैं। ग्रंथ के देवकृत होने में संदेह नहीं क्योंकि सुजान विनोद में से जो देव का एक प्रामाणिक ग्रंथ है, इसमें काफ़ी छंद लिये गये हैं, तथा नवीन छंदों की शैली भी देव से अभिन्न है।

इस खंडित प्रति का रचनाकाल भी अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है और जब तक कोई पूरी प्रति नहीं मिलती ज्ञात होने की कोई आशा भी नहीं है।

इस प्रति के नाम के संबंध में भी कुछ निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता। ग्रंथ के ऊपर 'नायिका-भेद' लिखा है पर यह लिखावट मूल प्रति से भिन्न तथा बहुत बाद की है। कुछ लोग इसे सुजान-विनोद की एक खंडित प्रति समझते थे पर क्रम में भिन्नता तथा नवीन छंदों की प्राप्ति के कारण यह कथन भी सत्य से दूर है। डा० नगेन्द्र का विचार है कि यह 'सुमिल-विनोद' जैसे किसी अप्राप्य ग्रंथ की (खंडित) प्रति है। सत्य यह है कि नाम के सम्बन्ध में निश्चय के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता।

इसका विषय शृङ्गार है। आरम्भ में कुछ संयोगवर्णन और फिर षट्ऋतु वर्णन दिए गए हैं।

नवीन छंदों में से एक उदाहरणार्थ हम देख सकते हैं—

गोरस के प्यासे हैं उपासे तन तो रस के,
अधर सुधा से मंद हाँसी ही हितौनि के।
सूखे जात रूखे मुख भूखे हँसि बोलन के,
देव कहें सेवक हैं सुघर सलौनि के।
देखे सुखु पावत-सु आवत नितहिं इत,
गावत निपुन गुन प्यारी गजगौनि के।
आकर विनोद राधिका कर विकाने चेरे,
बदन सुधाकर के चाकर चितौनि के॥

[ग] देव की ऐसी पुस्तकें जिनके केवल नाम मिलते हैं।

(अ) जिनके लिखे जाने का सूत्र देव की पुस्तकों मे मिलता है—

१. जय-विलास—इसका भवानी विलास से पता चलता है।

२. नख-शिख
३. षट्-ऋतु
४. रामचरित्र
—इनका सुख-सागर तरंग से पता चलता है।

(आ) जिनको कभी साहित्यिकों ने देखा है—

१. वृन्द-विलास
२. पावस-विलास
—श्री युगलकिशोर 'ब्रजराज' ने संभवतः देखा था।

३. नीति-शतक—पं० बालदत्त मिश्र ने शायद देखा था।

(इ) जिनका आधार केवल जनश्रुति है—

१. प्रेमदीपिका

२. राधिका विलास

३. सुमिल विनोद

४. भानु विलास

५. श्याम विनोद

[ङ] देव के नाम पर अन्य देव कवि या कवियों की सामग्री।

'शिवसिंह सरोज' तथा 'मिश्रबंधु विनोद' में देव तथा देवदत्त नाम के ५-६ अन्य कवियों के भी उल्लेख हैं। कभी-कभी उनकी रचनाएँ ध्यान से न देखने पर देव के होने का भ्रम भी उत्पन्न करती हैं। पं० गोकुलचंद्र ने अपने ग्रंथ 'शृङ्गार-विलासिनी' में ऐसी बहुत-सी पुस्तकों के नाम दिए हैं। पर, यहाँ उन पर विचार करना हम व्यर्थ समझते हैं। शैली तथा भाव आदि पर ध्यान देने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि देव तथा अन्य देवों की रचनाओं में ज़मीन आसमान का अंतर है। और कोई भी साहित्य का विद्यार्थी उन्हें स्पष्टतः पहचान सकता है। इस प्रकार देव की रचनाओं से किसी अन्य देव की रचनाओं के मिलने का तनिक भी अंदेशा नहीं।

(ब) निष्कर्ष

उपर्युक्त पूरे विवेचन पर विचार कर हम कह सकते हैं कि आज देव के १८ ग्रंथ तो हमें उपलब्ध हैं और उनके देवकृत होने में तनिक भी संदेह नहीं है। अनिश्चित रचनाकाल वाले ग्रंथों में राग-रत्नाकर भी अवश्य ही देव का है। खंडित प्रति के लिए बहुत सम्भव है वह दूसरे वर्ग की अप्राप्त पुस्तकों में नख-शिख, षट्ऋतु या सुमिल विनोद आदि में किसी की प्रति हो। दूसरे वर्ग में देव की बारह पुस्तकों के नाम मिलते हैं। इस प्रकार अपनी परीक्षा के फलस्वरूप हम कह सकते हैं कि अब तक की प्राप्त सामग्री के अनुसार देव ने लगभग ३१ ग्रंथ (१८ + १ + १२) लिखे जिनमें से केवल १९ हमें प्राप्त हैं।

अध्याय ४

आचार्य देव

(क) संस्कृत में आचार्य-परम्परा

सफल एवं सन्तोषजनक अभिव्यक्ति के लिये भाषा अपने शैशवावस्था से ही अलङ्कार तथा व्यंजना आदि का सहारा लेती आई है। असभ्य से असभ्य जातियों की भाषा में भी रीति की प्राथमिक बातों का स्वाभाविक, सीधा और सुन्दर प्रयोग मिल जाता है। भारतीय साहित्य का आदि ग्रंथ ऋग्वेद भी इनसे भरा पड़ा है। और तब से ज्यों-ज्यों मानव की विचारधारा जटिल होती गई तरह-तरह के जटिल से जटिल रीति सिद्धांत प्रयोग में आते गए। यह तो रही प्रयोग की बात। रीति के विवेचन का प्रारम्भ बहुत बाद में हुआ होगा। शायद भाषा का विवेचन करते समय लोगों का ध्यान इधर गया होगा। यहाँ उस विवेचन का संक्षिप्त इतिहास देखना अप्रासंगिक न होगा।

निरुक्त, व्याकरण आदि अनेक क्षेत्रों की भाँति इस क्षेत्र में भी प्रारंभ के लेखकों के नाम मात्र का ही हमें पता है। राजशेखर के काव्य-मीमांसा के अनुसार इस शास्त्र के प्रथम मनीषी शिव हैं। उनसे यह विद्या ब्रह्मा को मिली और ब्रह्मा से इसका जगत में प्रचार हुआ। राजशेखर ने इस शास्त्र के १८ अधिकरणों तथा प्रत्येक के आचार्यों का भी उल्लेख किया है, पर इन प्रचेतायन, चित्रांगद, शेष, पुलस्त्य, औपकायन, पाराशर तथा उतथ्य आदि अठारहों में से किसी के भी ग्रंथ आदि का पता नहीं और न तो उनके विवेचन के विषय में ही कुछ ज्ञात है। भामह तथा नमिसाधु द्वारा निर्देशित मेधाविन् या मेधाविरुद्र तथा वासवदत्ता में आए धर्मकीर्ति आदि के विषय में भी प्रायः यही बात है। प्राप्त ग्रंथों में कुछ लोगों के अनुसार अग्निपुराण ही इस विषय

का प्राचीनतम ग्रंथ है। पर यह धारणा पूर्णतः निराधार है। श्री पी० वी० काणे ने (Indian Antiquary, Volume 46, 1917; तथा संक्षेप में, साहित्यदर्पण की भूमिका में) इस विषय पर बहुत प्रामाणिक एवं पुष्ट तर्कों के आधार पर विस्तृत प्रकाश डालते हुये सिद्ध किया है कि अग्निपुराण का वह अंश, जिसमें इस विषय का विवेचन है, लगभग नवीं सदी का अर्थात् आज से केवल एक सहस्राब्द पुराना है। ऐसी परिस्थिति में भरत मुनि का नाट्य शास्त्र ही आचार्य-परम्परा का प्राचीनतम और प्रथम ग्रंथ माना जाना चाहिये।

नाट्य शास्त्र के रचना काल के विषय में मैकडोनेल तथा महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री आदि विद्वानों में बहुत मतभेद है। इस संबंध में श्री काणे ने (Indian Antiquary, Volume 46, 1917 में) विस्तार से विचार किया है। उनके अनुसार नाट्य शास्त्र का रचना काल ३०० ई० के लगभग है।

नाट्य शास्त्र, लगभग ५००० छंदों (प्रधानतः अनुष्टुभ तथा कुछ आर्या आदि) तथा कुछ गद्यखण्डों का ३७ अध्यायों में बँटा हुआ एक रीति ग्रंथ है। ग्रन्थ काफ़ी विस्तृत है अतः यहाँ उसका पूर्ण परिचय सम्भव नहीं। हाँ, विषयों के साथ अध्यायों की एक सूची दी जा सकती है—

१ अध्याय	नाट्य शास्त्र के विषय में कुछ बातें तथा ब्रह्मा के द्वारा भरत मुनि को इस पञ्चमवेद की प्राप्ति का वर्णन।
२ ”	नाट्य मण्डप की रचना।
३ ”	” ” के देवों की पूजा।
४ ”	तांडव नृत्य और उसकी कला।
५ ”	पूर्व रङ्ग तथा नान्दी पाठ आदि का विवेचन।
६ ”	रस, उनके विभाव तथा स्थायी भाव।

७	”	स्थायी भाव तथा व्यभिचारी इत्यादि।
८	”	आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक—चार अभिनयों का वर्णन।
९	”	अभिनय में आंगिक क्रियाओं का विस्तार।
१० तथा ११	”	रङ्गमञ्च पर चलने आदि के तरीक़े।
१२	”	चरित्र के स्तर (उच्च, मध्यम, निम्न) के अनुसार चाल, स्थान आदि का विवरण।
१३	”	आवन्ती, दाक्षिणात्या, पांचाली तथा ओड्रमागधी—चार प्रवृत्तियाँ और इनका नाटकीय कला में उपयोग।
१४-१५	”	छंद और उदाहरण।
१६	”	काव्य का लक्षण, चार (उपमा, रूपक, दीपक, यमक) अलङ्कार, १० दोष, १० गुण।
१७	”	प्राकृत और उसका नाटक में उपयोग।
१८	”	रूपक के १० भेद।
१९	”	नाटकीय कथावस्तु तथा ५ संधियाँ।
२०	”	भारती, सात्वती, कौशिकी तथा आरभटी—चार वृत्तियाँ।
२१	”	पात्रों के परिधानादि।
२२	”	भाव, हाव, प्रेम की १० अवस्थाएँ, नायिकाओं के ८ भेद।
२३	”	प्रेम जीतने के तरीक़े तथा दूती।
२४	”	नायक, नायिका, सूत्रधार तथा विदूषकादि।
२५	”	नाट्य कला।
२६	”	पात्रों की योग्यता, अवस्था आदि
२७	”	नाटक की आलोचना तथा दर्शक।

२८ " वाद्य यंत्र, सात स्वर, ग्राम तथा मूर्च्छना।
२९-३४ " गायन शास्त्र तथा वाद्य शास्त्र के विविध पक्ष।
३५ " नाट्य मण्डली की योग्यता तथा आवश्यकता।
३६-३७ " नाट्य कला का पृथ्वी पर अवतरण।

कहना न होगा कि यह ग्रंथ प्रधानतः नाटक से सम्बन्ध रखता है। रीति शास्त्र या साहित्य शास्त्र से सम्बन्धित केवल ६, ७, १४, १५, १६, १८, २०, तथा २२ वे अध्याय है।

नाट्य शास्त्र के लगभग ३०० वर्ष बाद, ६०० ई० के आसपास भट्टि ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ भट्टिकाव्य की रचना की। यह प्रधानतः संस्कृत व्याकरण का ग्रंथ है। इसमे चार काड और २२ सर्ग हैं। १ से ५ सर्ग तक प्रकीर्ण काड, ६ से ९ तक अधिकार काड, १० से १३ तक प्रसन्न काड तथा १४ से २२ तक तिङन्त काड है। प्रसन्न कांड के चार सर्ग ही केवल साहित्य शास्त्र से सम्बन्ध रखते हैं, जिनमें ३८ अलङ्कारों, तथा गुण आदि का विवेचन है।

६०० ई० के ही लगभग दण्डी ने काव्यादर्श की रचना की। काव्यादर्श में कुल ३ परिच्छेद तथा ६६० छंद है। कुछ संस्करणों मे चार परिच्छेद तथा ६६३ छंद भी है।

पहले परिच्छेद में काव्य की परिभाषा देते हुए उसके गद्य, पद्य और मिश्र ३ भेद किए गए हैं। फिर गद्य के कई भेद तथा भाषा भेद (संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा मिश्र) दिए गए है। इसी परिच्छेद में वैदर्भ और गौड दो शैलियाँ, १० गुण, अनुप्रास की परिभाषा तथा उदाहरण एवं कवि बनने के ३ उपकरणों [प्रतिभा, श्रुत तथा अभियोग (अभ्यास)] आदि का वर्णन है।

दूसरे परिच्छेद में अलङ्कार की परिभाषा तथा ३५ अलङ्कारो का वर्णन है।

तीसरे परिच्छेद में यमक, चित्रबंध, १६ प्रकार की प्रहेलिकाएँ तथा १० दोष वर्णित है.

दण्डी अलङ्कार सम्प्रदाय के हैं तथा इनकी शैली बहुत ही प्रवाह-पूर्ण है।

दण्डी के ही आसपास भामह का समय है। भामह के रीतिग्रंथ का नाम काव्यालंकार है। इसमें ६ परिच्छेद तथा ३९८ श्लोक हैं। पहले परिच्छेद में कविता की परिभाषा, भेद, शैली आदि पर प्रकाश डाला गया है। दूसरे परिच्छेद में ३ गुण तथा कुछ अलङ्कार हैं। तीसरे में शेष अलङ्कारों का विवेचन है। कुल अलङ्कारों की संख्या ३९ है। चौथे तथा पाँचवें परिच्छेद में दोष तथा छठें में कवियों के लिए कुछ व्यावहारिक बातें दी गई हैं। भामह भी अलंकार सम्प्रदाय के हैं।

८०० ई० के समीप उद्भट ने अलंकारसारसंग्रह की रचना की। इसमें ६ वर्गों में ७९ कारिकाएँ हैं जिनमें ४१ अलंकारों का वर्णन है। पिछले सभी आचार्यों की अपेक्षा उद्भट का वर्णन अधिक स्पष्ट और तर्कसंगत है। ये भी अलङ्कार सम्प्रदाय के थे तथा इस सम्प्रदाय पर इनका बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा।

८४० के समीप वामन ने काव्यालंकारसूत्र की रचना की। ग्रन्थ के तीन भाग हैं जिनमें क्रम से सूत्र, उसकी टीका तथा उदाहरण हैं। पूरे ग्रन्थ में ५ अधिकरण तथा १२ अध्याय हैं। प्रथम अधिकरण में काव्य प्रयोजन, काव्य की आत्मा रीति, वैदर्भी, गौडी, पांचाली तथा काव्य के भेदों का वर्णन है। दूसरे अधिकरण में दोष, तीसरे में गुण, चौथे में अलङ्कार तथा पाँचवें में कविता सम्बन्धी कुछ और मान्यताएँ हैं। वामन के अलङ्कारों की संख्या ३३ है।

रुद्रट के काव्यालंकार का रचनाकाल ८५० के लगभग है। थोड़ा अंश छोड़कर आर्या छंद में लिखा गया यह एक विशाल ग्रन्थ है, जिसमें कुल १६ अध्याय तथा ७४८ श्लोक (इनमें से १४ श्लोकों को प्रक्षिप्त माना जाता है) हैं। ग्रन्थ का विषय इस प्रकार है—

अध्याय १ काव्य का उद्देश्य, कवि के गुण और उनकी परिभाषा।

अध्याय २ ५ शब्दालङ्कार, ४ रीतियाँ, ६ भाषाएँ (संस्कृत, प्राकृत, मागध, पैशाची, शूरसेनी तथा अपभ्रंश), तथा ५ वृत्तियाँ (मधुरा, ललिता, प्रौढा, परुषा, भद्रा) आदि।

" ३ यमक का ५८ श्लोकों में वर्णन।

" ४ श्लेष और उसके ८ भेद।

" ५ चित्र, चक्रबंध तथा प्रहेलिका आदि।

" ६ दोष।

" ७ अलङ्कारों के ४ मूलाधार (वास्तव, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष), तथा वास्तविकता पर आधारित २३ अलङ्कार।

" ८ औपम्य पर आधारित २१ अलङ्कार।

" ९ अतिशय पर आधारित १२ अलङ्कार।

" १० शुद्ध श्लेष के १० भेद तथा २ प्रकार के शंकर।

" ११ अर्थदोष तथा उपमा के ४ दोष।

" १२ १० रस-गणना, वियोग तथा संयोग शृङ्गार, नायक एवं नायिका।

" १३ संयोग-शृङ्गार तथा नायिका के हावभाव।

" १४ वियोग शृङ्गार, उसकी १० दशाएँ, स्त्रियों के मनाने की ६ युक्तियाँ (साम, दान, भेद, प्रणति, उपेक्षा, प्रसङ्गभ्रंश)।

" १५ वीर तथा अन्य रस।

" १६ आख्यायिका, कथा तथा कथानक आदि का वर्णन।

अलङ्कारों का वैज्ञानिक वर्गीकरण करने का प्रथम श्रेय रुद्रट को है। इनमें अलङ्कारों की पूरी संख्या ७३ है।

अग्निपुराण की रचना ७वीं सदी के बाद की है और उसका साहित्य सम्बन्धी अंश तो प्रायः ९वीं सदी के समीप का है।

अग्निपुराण एक प्रकार का विश्वकोष है जिसमें अनेक प्रकार के ज्ञानों का वर्णन है। इसमें कुल लगभग ११००० श्लोक तथा ३८२ अध्याय हैं। ३३६ से ३४६ अर्थात् १० अध्यायों में (कुल ३६२ श्लोक) साहित्यशास्त्र का वर्णन है, जिसका कुछ विस्तृत विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है—

अध्याय ३३६—काव्य की परिभाषा, वर्गीकरण (संस्कृत तथा ३ प्राकृतों में। गद्य, पद्य, मिश्र में। कथा, आख्यायिका, महाकाव्य में)।

” ३३७ नाट्यशास्त्र।

” ३३८ रस तथा उसके अङ्ग।

” ३३९ ४ रीतियाँ तथा ५ वृत्तियाँ।

” ३४० नृत्यशास्त्र।

” ३४१ अभिनय।

” ३४२ शब्दालंकार।

” ३४३ अर्थालंकार।

” ३४४ ”

” ३४५ गुण।

” ३४६ दोष।

अग्निपुराण में पुराण शब्द होने के कारण और सभी अलङ्कार ग्रन्थों से इसकी प्रतिष्ठा अधिक रही है और इसे लोग सबसे प्राचीन समझते रहे हैं।

८६० ई० के समीप आनंदवर्धन ने ध्वन्यालोक की रचना की। श्री काणे के अनुसार वेदांत में जो स्थान बादरायण के वेदांत सूत्रों का तथा व्याकरण में पाणिनि का है, अलङ्कारशास्त्र (अलङ्कार शास्त्र का यहाँ अर्थ रीति शास्त्र है) में वही स्थान ध्वन्यालोक का है। ग्रंन्थ में ३ भाग तथा ४ उद्योत हैं जिनमें १२९ कारिकाएँ, उन पर वृत्ति तथा उदाहरण हैं।

प्रथम उद्योत में ध्वनि के विषय में विविध मतों का उल्लेख तथा उनका विवेचन है। इसी प्रसङ्ग में वाच्य तथा प्रतीयमान एवं प्रतीयमान के वस्तु, अलङ्कार एवं रस आदि के भेदों और विभेदों की ओर संकेत करते हुए लेखक ने बड़े ठोस एवं तर्क पूर्ण विचारों का प्रतिपादन किया है। दूसरे में अविवक्षित वाच्य के भेद तथा उदाहरण, विवक्षितान्यपर-वाच्य के भेद, गुण और अलङ्कार के भेद, तीनों गुणों पर संक्षिप्त विचार तथा रस के सम्बन्ध में कुछ बातों पर विचार किया गया है। तीसरे में भी दूसरे दृष्टिकोण से ध्वनि के भेद-विभेद किए गए हैं। रस और उसके विरोधी तत्त्वों आदि पर भी विवेचन है। चौथे में कवि की प्रतिभा, ध्वनि और रस आदि का वर्णन है।

कहना न होगा कि ऊपर के अन्य ग्रन्थों की तरह ध्वन्यालोक में एक ओर से अलङ्कार, रस, गुण, दोष आदि के भेद-विभेद नहीं दिये गये हैं अपितु इसमें इन सबके आधारभूत प्रश्नों एवं सिद्धांतों का विवेचन किया गया है। ध्वन्यालोक पर कई प्रसिद्ध टीकाएँ हैं।

राजशेखर कृत काव्यमीमांसा का रचना-काल ९१५ के समीप है। इसमें कुल १८ अध्याय हैं, जिनमें शास्त्र संग्रह, शास्त्रनिर्देश, पदवाक्यविवेक आदि कवि और कविता से सम्बद्ध विविध विषयों का विवेचन है। १४ से १६ अध्यायों में कवि-समय का बड़ा सुन्दर विवेचन है। कवियों के लिये यह एक व्यावहारिक विश्वकोष है।

काव्यमीमांसा के ही आसपास मुकुलभट्ट ने अभिधावृत्तिमातृका की रचना की जिसमें १५ कारिकाएँ तथा उन पर वृत्तियाँ हैं। यह ग्रन्थ साधारण है। भट्टतौत का काव्यकौतुक (९७० के आसपास), तथा भट्टनायक का हृदयदर्पण (९८० के आसपास)—ये दोनों ग्रन्थ भी कोई ख़ास महत्त्व नहीं रखते।

कुंतक के प्रसिद्ध ग्रंथ 'वक्रोक्ति जीवित' का रचनाकाल १००० के लगभग है। ग्रंथ में कारिका, वृत्ति और उदाहरण तीन भाग हैं,

जिनमें कुल ४ उन्मेष हैं। इसे एक संग्रह ग्रंथ कहें तो अत्युक्ति न होगी, क्योंकि कुंतक का अपना इसमें प्रायः कुछ भी नहीं है। यहाँ वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा माना गया है। कुंतक के अनुसार स्वभावोक्ति कोई अलङ्कार नहीं और वह कविता जिसमें स्वाभाविक वर्णन है कोई कविता नहीं। प्रथम उन्मेष में काव्य का प्रयोजन, तथा अलङ्कार और काव्य का सम्बन्ध बतलाते हुए लेखक वक्रोक्ति पर आता है। इसकी परिभाषा तथा अनिवार्यता समझाते हुए स्वभावोक्ति की हँसी करते हुए साहित्य तथा गुण पर प्रकाश डाला गया है। दूसरे में वर्णविन्यास—वक्रत्व का विवेचन, परिभाषा, वृत्तियाँ, तथा इनसे सम्बद्ध वक्रोक्ति के प्रश्नों के उत्तर हैं। तीसरे उन्मेष में लेखक काव्यवैचित्र्यवक्रता, वस्तुवक्रता, रस, भाव, तथा कुछ अलंकारों पर अपने विचार प्रकट करता है। चौथे में प्रकरणवक्रता तथा प्रबंधवक्रता का वर्णन है। कुंतक की वक्रोक्ति साधारण न होकर इतनी व्यापक है कि उसमें सभी कुछ आ जाता है। पिछले अलंकार शास्त्रियों की स्थान-स्थान पर सुंदर आलोचनाएँ भी इस ग्रंथ में मिलती हैं।

वक्रोक्ति जीवित के ही समीप धनंजय ने 'दशरूप' की रचना की। इसका प्रधान विषय तो नाटक है पर इसी प्रसङ्ग में इस पर भी कुछ कहा गया है। इसमें ३०० कारिकाएँ तथा ४ प्रकाश हैं। पहले में १० रूपक, संधियाँ और उनके अङ्गों का वर्णन है। दूसरे में नायक, नायिका तथा तीसरे में नाटक के आरम्भ तथा अन्य आवश्यकताओं का विवेचन है। चौथे में रस का विस्तृत निरूपण है।

११५० के लगभग राजानक महिम भट्ट ने 'व्यक्ति विवेक' की रचना की जिसमें ३ विमर्श हैं। ग्रंथ में ध्वन्यालोक में वर्णित ध्वनि का खंडन ही प्रधान विषय है।

अलङ्कारों के वर्णन की दृष्टि से भोज का सरस्वती कंठाभरण ग्रंथ बहुत महत्वपूर्ण है। भोज का समय १२वीं सदी का २रा चरण है। ग्रंथ में [illegible]

ग्रंथों से अधिक प्रसिद्ध तथा सुन्दर है। इसमें कुल १० परिच्छेद हैं जिनका विषय इस प्रकार है—

१ परिच्छेद काव्य का फल, परिभाषा, तथा प्राचीनों की आलोचना।
२ " वाक्य और शब्द की परिभाषा, तथा शब्द की तीन शक्तियाँ।
३ " रस तथा भाव।
४ " काव्य के दो भेद, ध्वनि तथा गुणीभूत व्यंग्य के भेद।
५ " वृत्ति (व्यञ्जना)।
६ " नाट्य शास्त्र।
७ " दोष।
८ " ३ गुण तथा अन्य गुणों का इसी में समाहार।
९ " शैली तथा वृत्ति।
१० " शब्द एवं अर्थ के अलङ्कार।

साहित्य-दर्पण में अलङ्कारों की संख्या ८४ है।

१६वीं सदी उत्तरार्द्ध में केशव मिश्र ने अलंकारशेखर की रचना की। ग्रंथ ८ रत्न और २२ मरीचियों में है जिनमें कारिका, वृत्ति और उदाहरण हैं। ग्रंथ में वर्णन तो प्रायः सभी चीज़ों का है पर कोई विशेषता नहीं है। अलङ्कारों की संख्या केवल २२ है।

१७वीं सदी के आरम्भ में अप्पय दीक्षित ने कुलयानंद की रचना की। यह जयदेव के चन्द्रालोक पर आधारित एक अलङ्कार ग्रंथ है जिसमें केवल अर्थालङ्कार लिए गए हैं। अर्थालङ्कारों की संख्या बढ़ाकर १२४ कर दी गई है।

संस्कृत के अन्तिम आचार्य पंडितराज जगन्नाथ (साहित्य समय १६२०–१६६०) हैं। इनका ग्रन्थ रस गंगाधर है। पूरा ग्रन्थ तो नहीं मिलता पर जो भाग मिला है बड़ा सुन्दर है। इसके अध्यायों के

नाम आनन है। काव्य भेद, रस, भाव, ध्वनि तथा अलङ्कारों पर इसमें विचार किया है। अलङ्कारों की संख्या ७० है। पंडितराज की शैली बड़ी सुन्दर है।

(ख) हिन्दी में आचार्य-परम्परा

शिवसिंह सेंगर के अनुसार हिंदी का प्रथम लेखक पुष्य या पुण्य है। उन्होंने ही यह भी लिखा है कि इस कवि ने अलङ्कारों के सम्बन्ध में दोहों में एक ग्रंथ ७०० सं० के लगभग लिखा था। कुछ लोगों के अनुसार वह किसी संस्कृत ग्रंथ का अनुवाद था। कुछ भी हो यह ग्रन्थ अभी तक मिल नहीं सका अतः कुछ नहीं कहा जा सकता।

१५४१ के लगभग कृपाराम ने अपनी हित तरङ्गिणी की रचना की जो रस—प्रमुखतः शृङ्गार रस एवं नायिका भेद से सम्बंध रखती है। इनके ग्रन्थ से पता चला है[1] कि इनके पूर्व भी हिंदी में इस विषय पर ग्रन्थ लिखे गए थे जो आज उपलब्ध नहीं हैं।[2]

---

[1] इनका एक दोहा है—

बरनत कवि शृंगार रस छंद बड़े विस्तार।
मैं बरन्यों दोहानि बिच, यातें सुघर विचार॥

[2] कुछ लोगों का अनुमान है कि सूरदास की साहित्य लहरी (जिसे कुछ लोग अप्रामाणिक भी मानते हैं) एवं तुलसीदास के 'बरवै रामायण' भी अलङ्कार ग्रंथ हैं। उन लोगों के इस कथन का एक मात्र आधार यह है कि इन दोनों ग्रंथों के छन्दों में अलङ्कार बहुत स्पष्ट हैं और प्रत्येक छन्द में अलग-अलग दिये गये हैं। साहित्य लहरी में तो अलङ्कारों के साथ कहीं-कहीं कुछ नायिकाओं का भी वर्णन है। पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अपनी भूषण ग्रंथावली की भूमिका में लिखा है—(साहित्य लहरी के) प्रत्येक पद में एक अलङ्कार का लक्षण और उसका उदाहरण तथा एक नायिका का लक्षण और उसका उदाहरण दिया हुआ है। पर बात

आगे चलकर गोप और गोपा, दो आचार्यों के नाम मिलते हैं। गोपा ने अलंकारों पर रामभूषण तथा अलङ्कारचंद्रिका नाम के दो ग्रन्थ लिखे थे पर गोप के ग्रन्थ आदि के विषय में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं है। आचार्यों में पाँचवाँ नाम चरखारी निवासी मोहनलाल मिश्र का मिलता है जिन्होंने शृङ्गार सम्बंधी शृङ्गार-सागर नामक ग्रन्थ की रचना की थी।

अकबर के दरबार में कभी-कभी जाने वाले करनेस कवि का समय १५५० ई० के लगभग पड़ता है। इन्होंने अलङ्कार संबंधी कर्णाभरण, श्रुतभूषण, तथा भूप-भूषण नामक तीन ग्रन्थ लिखे थे। ये ग्रन्थ भी उपलब्ध नहीं हैं।

केशवदास (१५४५-१६१७) ने अलङ्कारों पर कविप्रिया (विशेषतः शब्दालङ्कारों पर) और रस पर रसिकप्रिया ग्रन्थ की रचना की। यों तो केशव हिंदी के कवियों में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं पर आचार्य के रूप में उनकी कोई उल्लेख्य देन नहीं है। इसी कारण उनकी अपनी परम्परा हिंदी में नहीं चल सकी।

केशव के प्रायः ५० वर्ष बाद हिंदी में आचार्यत्व की अनवरत परम्परा चल सकी। यह परम्परा भी शुक्ल जी के शब्दों में स्वतंत्र अध्ययन पर आधारित न होकर चंद्रालोक, कुवलयानंद, काव्य प्रकाश तथा साहित्य दर्पण आदि संस्कृत ग्रन्थों की उद्धरणी मात्र है। अलङ्कार क्षेत्र में जसवंतसिंह (१६१६-१६७८) का भाषा भूषण ग्रंथ बहुत

इतनी स्पष्ट नहीं है। लक्षण तो कहीं भी नहीं हैं न तो अलङ्कार के और न नायिका भेद के। अलङ्कारों के नाम अवश्य प्रायः पदांत में आ गये हैं। नायिकाओं के संकेत भी सभी पदों में नहीं हैं। मेरा अपना निष्कर्ष है कि खींच तान कर तो लोग बिहारी के प्रत्येक दोहों का दार्शनिक अर्थ लगा लेते हैं, पर यदि उस प्रकार के आग्रह छोड़ दिये जायँ तो साहित्य लहरी और बरवै में कोई भी अलङ्कार ग्रंथ नहीं है और न सूर और तुलसी आचार्य ही हैं।

प्रसिद्ध एवं प्रचलित है। यह दोहों में लिखा गया है। एक ही दोहे में लक्षण और उदाहरण दोनों देने से यह विद्यार्थियों के बड़े काम का है। भाषा भूषण पर चंद्रालोक की स्पष्ट छाया है। इसमें रस, नायक-नायिका भेद, अलङ्कार तथा शब्द शक्तियों पर प्रकाश डाला गया है। भाषा भूषण की ५ टीकाएँ भी मिलती हैं। जसवंतसिंह के बाद चिंतामणि त्रिपाठी (कविता काल १६४३ ई०) का नाम लिया जा सकता है। साहित्य शास्त्र पर इनके 'काव्य विवेक', 'कवि कुल कल्पतरु' तथा काव्य प्रकाश, ये तीन ग्रन्थ कहे जाते हैं जिनमें अब केवल कविकुल कल्पतरु ही उपलब्ध है। इसमें काव्य के सभी अङ्गों पर प्रकाश डाला गया है। इसके अतिरिक्त इन्होंने पिंगल पर भी एक ग्रंथ लिखा।

मण्डन (१६५६ ई०) के रस सम्बंधी रस रत्नावली तथा रस-विलास दो ग्रंथ कहे जाते हैं पर आज उपलब्ध न होने से इनके विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता।

मतिराम (जन्म १६१७ ई०) का इस क्षेत्र में अच्छा स्थान है। इनका 'ललित ललाम' नामक अलङ्कार ग्रंथ एवं 'रसराज' नामक रसग्रंथ बहुत प्रसिद्ध हैं। पिंगल पर इन्होंने 'छंदसार' ग्रंथ लिखा है। इनमें जसवंत जैसी स्पष्टता तो नहीं है पर इनका श्रम केशव आदि की तरह व्यर्थ नहीं गया है।

भूषण (१६१३-१७१५) का शिवराज भूषण केवल नाम मात्र को रीति ग्रन्थ है। इसमें न तो उदाहरण ठीक हैं न लक्षण।

कुलपति मिश्र (कविता काल १६७७ ई० के लगभग) का रस रहस्य ग्रन्थ मम्मट के काव्य प्रकाश का छायानुवाद मात्र है। केवल अलंकार प्रकरण के उदाहरणों में कुछ नवीनता है। यों ग्रन्थ पढ़ने योग्य है।

सुखदेव मिश्र (कविताकाल १६६३ ई०) ने यों तो रसार्णव आदि में रसों पर प्रकाश डाला है पर छंदशास्त्र में इनका ग्रन्थ 'छंद-विचार' [illegible] अभूतपूर्व स्थान रखता है।

कालिदास त्रिवेदी (कविताकाल १६८८ ई०) का नायिका भेद पर 'वार-वधू विनोद' एक साधारण ग्रन्थ है।

देव के भाव-विलास एवं शब्द रसायन आदि साहित्यशास्त्र के सुंदर ग्रन्थ हैं। इन पर आगे विस्तार से विचार किया गया है।

सूरति मिश्र (कविताकाल १६२०) ने केशव की ग्रन्थों की टीकाएं लिखने के साथ-साथ रस-अलङ्कार आदि पर स्वयं भी लिखा है पर वह विशेष महत्वपूर्ण नहीं है।

कवींद्र (कविताकाल १७४७) का शृङ्गार पर 'रसचंद्रोदय' ग्रन्थ सुंदर है।

श्रीपति (कविताकाल १७२०) ने कई ग्रंथ लिखे हैं जिनमें काव्य सरोज, अलङ्कार गङ्गा, रस सागर, तथा अनुप्रास विनोद अधिक प्रसिद्ध हैं। इन्होंने काव्य के प्रायः सभी अङ्गों का विवेचन किया है। इनका काव्य सरोज ग्रन्थ बहुत ही प्रौढ़ है। भिखारीदास ने अपने काव्य निर्णय में इनकी बहुत चोरी की है।

बीर कवि ने रस तथा नायिका भेद पर कृष्णचंद्रिका (१७२२ ई०), रसिक सुमति (कविताकाल १७२८) ने कुवलयानंद के आधार पर दोहों में 'अलङ्कार चंद्रोदय', तथा गञ्जन (कवितालाल १७२६) ने शृङ्गार ग्रन्थ 'कमरुद्दीन खाँ हुलास' लिखे जिनका केवल ऐतिहासिक महत्व है।

हिंदी के आचार्यों में भिखारीदास (कविताकाल १७३५) का नाम अग्रगण्य है। इनका काव्यनिर्णय ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त रससाराश, छंदोर्णव, पिंगल, शृङ्गार निर्णय, छंद प्रकाश आदि भी इनके रीति ग्रन्थ हैं। कहना न होगा कि दासजी ने अलङ्कार, रस, छंद, गुण, दोप तथा पदार्थनिर्णय आदि सभी विपयों पर काफ़ी विस्तार से प्रकाश डाला है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है इन्होंने श्रीपति से बहुत कुछ लिया है, फिर भी इन्होंने अपनी मौलिक देन भी दी है। इनमें आचार्यत्व से अधिक कवित्व है।

भूपति (कविता काल १७३४) के कंठाभूषण और रस-रत्नाकर, तोषनिधि (कविता काल १७३४) का सुधानिधि (रस तथा भाव), दलपत राय तथा वंशीधर (कविता काल १७३५) का अलङ्कार रत्नाकर (भाषा भूषण पर आधारित) आदि भी ग्रन्थ लिखे गए। सोमनाथ (कविता काल १७३५) का रसपीयूषनिधि (काव्य के सभी विषयों पर बहुत बड़ा ग्रन्थ) इन सभी की अपेक्षा स्पष्ट तथा प्रौढ़ है। इनको शुक्लजी ने दास के समकक्ष माना है।

इनके बाद पद्माकर (कविता काल १८११) के पद्माभरण के अतिरिक्त और कोई सुन्दर ग्रन्थ नहीं मिलता। यों गणना के लिए कुछ और नाम देखे जा सकते हैं—

कवि	कविता काल	पुस्तक
रसलीन	१७३७ ई०	रस प्रबोध
रघुनाथ	१७४३ ई०	रसिक मोहन (अलङ्कार), काव्य-कलाधर (रस)
कुमार मणि भट्ट	१७४६	रसिक-रसाल
शम्भू नाथ मिश्र	१७४९	रस कल्लोल, रस तरङ्गिणी, अलङ्कार दीपक
दूलह	१७६३ ई०	कविकुलकंठाभरण (बहुत सुन्दर ग्रन्थ है।)
ऋषिनाथ	१७६४	अलङ्कार मणि मञ्जरी
बैरी लाल	१७६८	भाषाभरण
रतन कवि	१७७३	फतेह भूषण
चंदन	१७८८	शृङ्गार सागर, काव्याभरण, कल्लोल तरङ्गिणी
देवकीनंदन	१७८९	शृङ्गार चरित्र, अवधूत भूषण, सरफ-राज चन्द्रिका
भान कवि	१७९०	नरेन्द्र भूषण
बेनी बंदीजन	१७९०	टिकैत राय प्रकाश, रस विलास

चैनी प्रवीन	१८१०	नव रस तरङ्ग, शृङ्गार-भूषण
ग्वाल	१८३६	रसिकानन्द, रस रङ्ग, दूषण-दर्पण
प्रताप साहि	१८३८	काव्य विलास, शृङ्गार मञ्जरी, अलङ्कार चिंतामणि

हिंदी परम्परा में ऊपर बहुत से आचार्यों का उल्लेख किया जा चुका है, पर इनमें किसी का भी कोई ग्रन्थ ऐसा नहीं है जिसे पढ़ लेने पर विषय का पूरा ज्ञान हो जाय। इसके दो कारण हैं— १. हिंदी के इन आचार्यों का स्वतन्त्र चिंतन नहीं था। २. गद्य के प्रचलन होने के कारण विवेचन में स्वच्छंदता नहीं थी। गद्य के प्रचलन के बाद के सुन्दर रीति ग्रन्थों में कन्हैयालाल पोद्दार का 'काव्य कल्पद्रुम', जगन्नाथ प्रसाद भानु का 'छंद प्रभाकर', भगवानदीन की 'अलङ्कार मंजूषा', रसालजी का 'अलङ्कार पीयूष', अर्जुनदास केडिया का 'भारती भूषण', गुलाब राय का 'नवरस' तथा शुक्लजी की 'रस मीमांसा' आदि प्रधान हैं।

संस्कृत तथा हिंदी परंपरा देखने के बाद हम लोग अपने मूल विषय पर आ सकते हैं।

देव प्रधानतः तो कवि थे जैसा कि आगे स्वतः सिद्ध हो जायगा पर उन्होंने रीति का भी विवेचन किया है अतः उन्हें आचार्य भी कहा जाता है। इनके रीति विवेचन के प्रधान ग्रंथ तो भाव-विलास तथा शब्द रसायन हैं पर इनके अतिरिक्त भी भवानी विलास, रसविलास, सुजान-विनोद, कुशल विलास तथा सुखसागर तरंग आदि में इस प्रकार की सामग्री है। यहाँ रीति सम्बन्धी विभिन्न विषयों के देव द्वारा किए गए विवेचन पर विचार किया जायगा।

(ग) रस[1]

देव स्वयं रसवादी कवि थे तथा रस साहित्य का प्राण है अतः

[1] पीछे के भाव-विलास तथा शब्द रसायन के वर्णन में 'रस-प्रकरण' भी इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है।

पहले रस पर ही विचार करना उचित होगा। राजशेखर के कथनानुसार नंदिकेश्वर ने ब्रह्मा के उपदेश से सर्वप्रथम रस का निरूपण किया पर नंदिकेश्वर के विवेचन के सम्बन्ध में कुछ भी आज ज्ञात नहीं है। रस का प्रथम उपलब्ध विवेचन भरत के नाट्यशास्त्र में है। आगे चलकर भरत के टीकाकारों भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक तथा अभिनव गुप्त के विवाद से ४ मत या वाद चले। रस के पोषक आचार्यों में विश्वनाथ तथा पंडितराज जगन्नाथ प्रधान हैं। देव के पथ प्रदर्शक रसमञ्जरी के कर्त्ता भानुदत्त भी रसवादी ही थे। देव ने रस परम्परा इन्हीं से ग्रहण की।

रसों की संख्या में भी क्रमिक विकास और ह्रास होता रहा है। भरत ने शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स तथा अद्‌भुत ८ रस माने हैं। नाटक की दृष्टि से यह विचार था और इन्होंने नाटक के लिए शांत रस अस्वीकार किया। हाँ, काव्य आदि के लिए शांत रस भी स्वीकार था। इस प्रकार रसों की संख्या नौ हुई। रुद्रट ने प्रेयान को, विश्वनाथ ने वात्सल्य को तथा गौडीय वैष्णवों ने 'मधुर' को भी रस माना है। आजकल कुछ लोग कटु या तिक्त को भी रस मानने के पक्ष में हैं। इस प्रकार रसों की संख्या ६ और १३ के बीच में है। जैसा कि सामान्यतः प्रचलित है देव ने नौ रस माने हैं।

देव रस को काव्य का सार या काव्य में मुख्य मानते हैं[1]—

काव्य सार शब्दार्थ को रस तिहि काव्यासार।

या

ताते काव्या मुख्य रस जामैं दरसत भाव।

---

[1] उन्होंने रस को ब्रह्मानन्द सहोदर एवं इन्द्रियों के अनुभव से परे माना है। शब्द रसायन में वे कहते हैं—

हरिजस रस की रसिकता सकल रसाइन सार।
जहाँ न करत कदर्थना यह असार संसार॥

उनके अनुसार रस की परिभाषा है—

जो विभाव अनुभाव अरु विभचारिनु करि होइ।
थिति पूरन रस वासना सुकवि कहत रस सोइ॥

आशय यह है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों द्वारा स्थायीभाव (स्थिति) की पूर्ण वासना को रस कहते हैं। डा० नगेन्द्र के अनुसार वासना का अर्थ यहाँ 'अनुभव' है। अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव द्वारा निष्पन्न स्थायी भाव की पूर्ण अनुभूति ही रस है।

भाव विलास में देव ने प्रारम्भ के दो विलासों में भावों पर विचार किया है। विभाव के विषय में आप कहते हैं—

जो विशेष करि रसनि को उपजावत है भाव।
भरतादिक सतकवि सबै, तिनको कहत विभाव॥

अर्थात् रसों को उत्पन्न करने वाले 'विभाव' कहलाते हैं।

ते विभाव द्वै भाँति के, कोविद कहत बखानि।
आलम्बन कवि देव अरु उद्दीपन उर आनि॥

विभावों के आलम्बन और उद्दीपन दो भेद होते हैं। जिनका आलम्ब पाकर रस उत्पन्न होते हैं उन्हें आलम्बन विभाव—

रस उपजै आलम्ब जिहि सो आलम्बन होइ।

कहते हैं; जैसे नायिका को देख नायक के हृदय में रस उत्पन्न होता है। देव आलम्बन विभाव का उदाहरण देते हैं—

चितदै चितऊँ जित ओर सखी तित नन्दकिशोर की ओर ठई।

तथा जो रसों को उद्दीप्त करें उन्हें उद्दीपन विभाव—

रसहिं जगावै दीप ज्यों, उद्दीपन कहि सोइ।

कहते हैं। शृङ्गार रस के उद्दीपनों का देव उदाहरण देते हैं—

गीत नृत्य उपवन गवन आभूषन वन केलि।
उद्दीपन शृङ्गार के विधु बसंत बन बेलि॥

अनुभाव की परिभाषा देते हैं—

जिनको निरखत परस्पर रस कौ अनुभव होइ ।
इनहीं कौ अनुभाव पद कहत सयाने लोइ ।

जिन्हें देखकर रस का अनुभव हो उन्हें अनुभाव कहते हैं । शृङ्गार रस के अनुभावों को देव गिनाते हैं—

आनन नयन-प्रसन्नता, चलि चितौनि मुसक्यानि । इत्यादि

आगे देव संचारी भाव (व्यभिचारी भाव) के विषय में कहते हैं—

थिति विभाव अनुभाव तें न्यारे अति अभिराम ।
सकल रसनि मैं सञ्चरैं सञ्चारी कउ नाम ॥

अर्थात् स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव से पृथक् जो भाव रसों में सञ्चार करते हैं उन्हें सञ्चारीभाव कहते हैं ।

ते सारीर रु आंतर द्विविध कहत भरतादि ।

सञ्चारी भाव के शारीरिक और मानसिक (आंतर) दो भेद होते हैं । शारीरिकों को सात्विक भी कहते हैं । इसके स्तम्भ, स्वेद, रोमाच, वेपथु, स्वरभङ्ग, विवरनता, अश्रु तथा प्रलय—ये आठ भेद होते हैं । देव ने इन आठों की परिभाषाएँ तथा उदाहरण भी दिये है । आंतर या मानसिक संचारी भाव मन में पैदा होते है और इनके तैंतीस भेद होते हैं—

प्रथम होत निर्बेद ग्लानि सङ्का सुयाकउ
मद अरु श्रम आलस्य, दीनता चिंता बरनउ
मोह सुमृत धृति लाज, चपलता हर्ष बखानउ
जड़ता दुख आवेग गर्व उत्कंठा जानउ

अरु नींद अवस्मृति सुप्रति अव, बोध क्रोध अवहित्थ मति ।
उग्रत्व व्याधि उन्माद अरु, मरन त्रास अरु तर्क तति ।

अर्थात् निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दीनता, चिंता, मोह, स्मृति, धृति, लज्जा, चपलता, हर्ष, जड़ता, दुख, आवेग,

पर साथ ही—

यहि भाँति आठ विधि कहत कवि, नाटक मत भरतादि मत्र।
अरु शांत यतन मत काव्य के लौकिक रस के भेद नव।

अर्थात् वे नाटक में तो ८ रस और काव्य में नव (शांत रस भी) मानते थे।

उनके शब्दों में नव रस हैं—

रस सिंगार, हास्य, अरु करुना रौद्र सुवीर भयानक कहिये।
अद्भुत अरु बीभत्स सांत काव्य मत ये नव रस लहिए।

इस छन्द में देव ने प्रथम स्थान 'शृङ्गार' को दिया है। रीतिकाल के राजा जनता तथा तत्कालीन अन्य बहुत से कवियों की भाँति देव का भी प्रिय रस शृङ्गार ही है। भवानी-विलास, भाव-विलास तथा शब्द रसायन तीनों ही ग्रन्थों में अन्य रसों से कई गुना स्थान शृङ्गार रस को दिया है। भवानी-विलास में तो ठीक १०० पृष्ठ में शृङ्गार रस का विवेचन है और केवल १८ पृष्ठों में शेष, ८ रसों का।

भवभूति आदि कुछ को छोड़कर प्रायः सभी लोग शृङ्गार को रस-राज मानते हैं। पर देव ने तो भवभूति की ही भाँति शृङ्गार में ही सभी रसों को समाविष्ट कहा है—

भूलि कहत नव रस सुकवि सकल मूल शृङ्गार
तेहि उछाह निर्वेद लै, वीर सांत सञ्चार

इस प्रकार शृङ्गार ही एक रस है और उसमें ही वीर और शांत हैं। फिर इन ३ रसों में शेष—
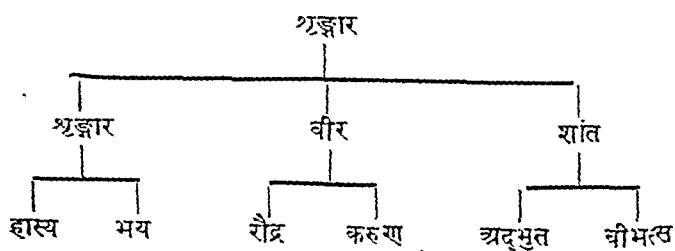
देव आगे कहते हैं—

भाव सहित सिंगार में नव रस झलक अजस्र।
ज्यों कंकन मनिकनक को ताही में नव रत्न।

शृङ्गार के दो भेद वियोग (विप्रलम्भ शृङ्गार) तथा संयोग प्रसिद्ध हैं। देव ने भी इन्हें स्वीकार किया है। पर इसके आगे दोनों के ही प्रकाश और प्रच्छन्न दो-दो विभेद कर देते हैं। जैसा कि नाम से स्पष्ट है प्रकाश स्पष्ट रहता है और प्रच्छन्न गुप्त। यह विचित्रता भी उनकी अपनी नहीं। इसे या तो उन्होंने सीधे भोज के शृङ्गार प्रकाश से लिया है या केशव की रसिक प्रिया से।

केशव लिखते हैं—

शुभ संयोग वियोग पुनि, दोउ शृङ्गार की जाति।
पुनि प्रच्छन्न प्रकाश करि, दोऊ द्वै द्वै भाँति।

देव लिखते हैं—

रस सिंगार के भेद द्वै हैं वियोग संजोग।
सो प्रच्छन्न प्रकास कहि द्वै द्वै दुहूँ प्रयोग।

ये दो भेद करने के बाद वियोग के चार और भेद किए हैं—पूर्वानुराग, मान, प्रवास और शोक या करुणात्मक। इन चारों को देव ने समझाया भी है। पूर्वानुराग के फिर श्रवण और दर्शन दो विभेद किए हैं। इसी प्रकार मान के गुरु, मध्यम और लघु तीन, और करुनात्मक वियोग के भी लघु मध्यम और दीर्घ तीन विभेद किए गए हैं। वियोग के अन्तर्गत अभिलाषा, गुण कथन, प्रलाप, उद्वेग, चिंता, स्मरण, उन्माद, जड़ता, व्याधि तथा मरण, इन वियोग की १० अवस्थाओं का भी उल्लेख है।

रस विलास में इनमें कुछ के विभेद भी हैं—

चिंता—साधारण, गुप्त, संकल्प, विकल्प।

स्मरण—स्वेद, स्तम्भ, रोमांच, कम्प, स्वरभङ्ग, वैवर्ण्य, प्रलय (सात्विक भेदों पर आश्रित)।

गुणकथन—हर्ष, ईर्ष्या, विमोह, अपस्मार (चार संचारियों पर आश्रित)।

उद्वेग—वस्तु, देश, काल।

प्रलाप—ज्ञान, वैराग्य, उपदेश, प्रेम, संशय, विभ्रम, निश्चय।

उन्माद—मदन, मोह, विस्मरण, विक्षेप।

व्याधि—सन्ताप, ताप, पश्चाताप।

संयोग श्रृङ्गार के प्रकाश और प्रच्छन्न के अतिरिक्त भेद-विभेद नहीं किए गए हैं। हाँ, हावों के वर्णन अवश्य हैं।

भाव-विलास में कहा गया है—

नारिन के संभोग तें होत विविध विधि भाव
तिनमें भरतादिक सुकवि बरनत है दस हाव॥

संयोग से स्त्रियों में अनेक प्रकार के भाव पैदा होते हैं। भरतादि आचार्यों ने इस प्रकार के १० भावों को हाव कहा है। ये दस लीला, विलास, विच्छति, विभ्रम, किलकिंचित, मोट्टाइत, कुट्टमित, बिब्बोक, ललित और विहित हैं।[1] विहित के व्याज और लाज दो विभेद भी हैं। विभेदों के तो देव ने केवल उदाहरण दिये हैं पर भेदों की परिभाषा या लक्षण भी।

एक स्थान पर देव ने दसों हावों को रक्खा है—

प्रीतम बेप विलास विसेख सविभ्रम भौंहनि जोहनि जोऊ।
रूप के भार धरे लघु भूषन औ, विपरीति हँसे किन कोऊ।
भै रसरास हँसी रिस हूँ रस देव जू दुख सुखौ सम होऊ।
तोहि भट्ट बनि आवत है रस भाव सुभाव में हाव दसोऊ॥

---

[1] लीला और विलास कहि बिच्छितरु बिब्बोक।
विभ्रम किलकिंचित कहौं मोट्टाइत मति ओक॥
कहौं कुंट्टमित अरु विहृत ललित-ललित दस हाव।
तिय पिय सनमुख पूर्णरस उपजत सहज सुभाव॥

'लीला—पति के भूषण, वसनादि पत्नी द्वारा धारण करने से होता है। इस छंद में भी नायिका द्वारा पति का वेष धारण करने में लीला हाव आया है। विलास गमनादि में कुछ विशेषता से होता है। विशेष विलास में विलास-हाव मिला। लघुभूषण से विच्छित हाव हुआ। विपरीत भूषण से विभ्रम हाव आया। 'मैं रस रास हँसी रिस हू रस' में कई भाव मिलने से किलकिंचित हाव प्राप्त हुआ। सुख को दुख के समान मानने में कुट्टमित हाव प्रगट है। भौंहों द्वारा देखने में भविष्य में भी दरस कामना प्रबला होने के कारण मोट्टायत हाव हुआ। रिस से पति का अनादर व्यञ्जित है, जिससे बिब्बोक हाव आया। रूप का भार नायिका पर है, अर्थात् रूप ही उसका पूर्ण आभरण है, जिससे आभरण-बाहुल्य का विचार आने से ललित हाव निकला। मैं रसरास में रास के रस में भय लगा रहने के कारण उसमें अपूर्णता का अभिप्राय व्यञ्जित हुआ, जिससे विहित हाव आया।'

नायक-नायिका भेद भी शृङ्गार रस का ही अङ्ग है पर स्पष्टता के लिए, रसों के बाद अलग उन पर विचार किया जायगा।

हास्य रस के स्मित, हसित, आदि प्रसिद्ध छः भेदों को छोड़ देव ने उत्तम, मध्यम और अधम तीन भेद किए हैं—

लीलादिक ते भेष अरु बचन जहाँ विपरीत।
अधिक अधम, मधि मध्य जन, उत्तम हँसत विनीत॥

कहना न होगा कि उत्तम हँसी 'स्मित' है मध्यम 'हसित' है और अधम 'अतिहसित' या अट्टहास है।

करुण रस के—

करुना अति करुना अरु महाकरुन लघु हेत।
एक कहत है पाँच ये दुख में सुखहि समेत॥

पाँच भेद—करुण, अतिकरुण, महाकरुण, लघुकरुण और सुख-करुण हैं। इनमें आरम्भ के चार तो स्पष्ट हास्य की मात्रा पर आधारित हैं। उन्हें यदि क्रम से लघुकरुण, करुण, अतिकरुण, महाकरुण कहा

जाय तो अधिक स्पष्ट हो जायँगे। चौथा भेद सुखकरुण है। इससे देव का आशय उस करुणा से है जिसमें सुख का योग हो। दूसरे शब्दों में इसे खटमिट्ठी करुणा कह सकते हैं।

वीर रस के प्रायः चार भेद कहे गए हैं—युद्ध, दया, दान, धर्म। वियोगी हरि ने अपनी सतसई में विरहवीर तथा सत्यवीर आदि और भी भेद किये हैं। देव ने केवल तीन भेद किये हैं—युद्ध, दया और दान। यहाँ भी उन्होंने रस तरङ्गिणी का ही अनुकरण किया है।

शांत रस के भी देव में दो भेद मिलते हैं। १. भक्तिमूलक, २. शुद्ध। फिर प्रथम के प्रेमभक्ति, शुद्धभक्ति और शुद्ध प्रेम तीन उपभेद किये गए हैं। यह भेद-विभेद बड़ा बेतुका सा है और सम्भवतः इसी कारण शब्द रसायन में नहीं दिया गया है।

वीभत्स रस में जुगुप्सा के दो भेद माने गये हैं। एक तो शुद्ध जुगुप्सा है और दूसरी ग्लानि है। देव ने दोनों के अलग-अलग नाम नहीं दिये हैं। यहाँ भी मात्रा का ही भेद है।

शेष रसों—रौद्र, भयानक और अद्‌भुत में कोई विशेषता नहीं है और न तो उनके भेदादि ही हैं।

रसों के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में देव की दो मान्यताएँ हैं।

एक के अनुसार वे शृङ्गार, वीर और शांत को प्रधान रस मानते हैं। तथा फिर शृंगार के आश्रित हास्य और भय, वीर के आश्रित करुण और रौद्र तथा शांत के आश्रित अद्‌भुत और वीभत्स। यह सम्बन्ध किसी प्रकार के मनोवैज्ञानिक चिंतन पर आधारित नहीं है, अतः प्रायः व्यर्थ सा है।

दूसरी मान्यता में भरत मुनि के अनुकरण पर वे शृंगार, वीर, रौद्र और वीभत्स को प्रधान रस मानते हैं और हास्य, अद्‌भुत, करुण तथा भयानक को इन्हीं से उद्‌भूत मानते हैं। यह भी प्रायः पहली मान्यता की भाँति ही निरर्थक है। इन युग्मों को देव ने आपस में मित्र रस कहा है।

रसों की शत्रुता की ओर ध्यान देते हुये मित्र रसों की भाँति ही शांत को छोड़कर वीभत्स-शृंगार, भय-वीर, अद्‌भुत-रौद्र तथा करुण-हास्य के शत्रु जोड़े बनाये गये हैं।

रस दोष नाम से यथार्थतः रस सम्बन्धी दोषों का स्पष्ट विवेचन नहीं है। यहाँ भी कुछ 'उदास' तथा 'नीरस' आदि रस भेद ही दिए गये हैं। लक्षण या परिभाषा के अभाव में केवल उदाहरणों से इनके सम्बन्ध में स्पष्टतः कुछ समझ में नहीं आता। इनमें नीरस के फिर देश, काल, वर्ण, विधि, यात्रा, संधि, रस और भाव के विरोध के अनुसार आठ भेद किये गए हैं। ये काव्य दोष के अधिक समीप हैं। यह सब भी रस तरङ्गिणीकार की ही देन है। अंत में रस के विषय में संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि सामान्य मान्य सिद्धांत उन्हें भी मान्य हैं। शेष विस्तार पर अनुकरण आधारित तथा व्यर्थ के पँवारे मात्र हैं।

(घ) अलङ्कार

अलङ्कार का यों तो उल्लेख भरत के नाट्य शास्त्र में भी है और वहाँ उपमा, रूपक, दीपक और यमक—

उपमा रूपकश्चैव दीपकं यमकं तथा।
अलङ्कारास्तु विज्ञेयाः चत्वारो नाटकाश्रयाः।

चार अलङ्कारों का उल्लेख भी है पर अलङ्कार सम्प्रदाय के प्रथम प्रवर्तक भामह हैं। इनके टीकाकार उद्‌भट तथा रुद्रट ने इसे और विकसित किया। दण्डी भी इसके प्रधान आचार्यों में है। अलङ्कारों की संख्या में भी रस की भाँति धीरे-धीरे विकास हुआ है। नाट्य शास्त्र से चार अलङ्कार चले थे। भामह में उनकी संख्या ३८, दण्डी में ३५, मम्मट में ७०, रुद्रट में ७३, रुय्यक में ६४, विश्वनाथ में ६० और कुवलयानंदकार में प्रायः १२५ हो गई।

देव अलङ्कार सम्प्रदाय के न होकर रसवादी थे। केशव आदि की भाँति वे अलङ्कारों को कविता का प्राण नहीं मानते थे पर साथ ही उन्हें

अनावश्यक भी नहीं समझते थे। शब्द रसायन में एक स्थान पर कहा है—

कविता कामिनि सुखदप्रद सुबरन सरस सुजाति।
अलङ्कार पहिरे अधिक अद्भुत रूप लखाति॥

अलङ्कारों के देव ने २ भेद माने हैं—१. चित्र या शब्दालङ्कार, २. अर्थालङ्कार। फिर अर्थालङ्कार के भी सामान्य और विशेष दो भेद किए हैं। चित्र या शब्दालंकार को वे बहुत निकृष्ट समझते थे, इसे अधम काव्य कहा है—

अलङ्कार जे शब्द के ते कहि काव्य सुचित्र।
....
अधम काव्य ताते कहत कवि प्राचीन नवीन॥

अलङ्कार से सम्बन्धित देव के २ ग्रन्थ हैं। प्रथम ग्रन्थ 'भाव-विलास' उनका आरम्भिक ग्रन्थ है। इसका विवेचन अत्यन्त साधारण श्रेणी का है। इसमें कुल ३६ अलङ्कार हैं। रस में जिस प्रकार रस तरंगिणी से इन्होंने बहुत कुछ लिया है, अलङ्कार में उसी प्रकार दण्डी तथा केशव आदि से। भाव-विलास के ३६ अलंकारों में ३७ अलङ्कार तो देव ने दण्डी या केशव से लिए हैं पर शेष दो वक्रोक्ति और पर्यायोक्ति दण्डी में नहीं हैं। इन्हें विद्वानों का विचार है कि देव ने केशव से लिये हैं और केशव ने संभवतः भामह से। भाव-विलास में देव ने लिखा है—

अलङ्कार मुख्य उनतालिस हैं, देव कहैं,
येई पुरानन मुनि मतनि मैं पाइए।
आधुनिक कविन के सम्मत अनेक और,
इनहीं के भेद और विविध बताइए।

इसका आशय यह है कि आरम्भ में देव इन्हीं ३६ को प्रधान अलङ्कार समझते थे। पर प्रौढ़ावस्था तक आते-आते इनके विचार परिवर्तित हो गए। [केशव में अलङ्कारों की संख्या ४१ (४ सामान्य

+ ३७ विशेष) है।] अपने दूसरे ग्रन्थ शब्द रसायन में इनके अलङ्कारों की संख्या ८८ के आस-पास है[1] । इन्होंने लिखा है:—

मुख्य गौन विधि भेद करि है अर्थालङ्कार
मुख्य कहो चालीस विधि गौन तुतीस प्रकार
मुख्य गौन के भेद मिलि मिश्रित होत अनंत

इस प्रकार हम देखते हैं कि पहिले के ३६ अलङ्कारों के स्थान पर देव ने न केवल ७० अलङ्कार (४० मुख्य + ३० गौण) माने हैं अपितु यह भी कहा है कि दोनों को मिलाने से अलङ्कारों की संख्या अनंत हो सकती है और यह केवल अर्थालंकार के विषय में है। शब्दालङ्कार में भी जिसे उन्होंने चित्र कहा है, यमक, अनुप्रास तथा चित्र आदि को स्थान दिया है। भाव-विलास के ३६ अलंकारों को छोड़कर प्रायः ४५ नये अलङ्कार शब्द रसायन में हैं। ये नवीन अलङ्कार उद्भट, वामन, रुद्रट, भोज, मम्मट तथा विश्वनाथ आदि से लिए गए हैं।

देव अर्थालङ्कारों में उपमा और स्वभावोक्ति को प्रधान मानते हैं तथा शब्दालंकारों में अनुप्रास और यमक को। देखिये

अलङ्कार में मुख्य है उपमा और स्वभाव।

तथा

अनुप्रास और यमक ये चित्र काव्य के मूल।

इनमें स्वभावोक्ति के विषय में तो विवाद है। कुछ लोग तो स्वभावोक्ति को अलङ्कार भी मानने में हिचकते हैं। पर उपमा को मुख्य अलङ्कार माना जा सकता है। शब्दालङ्कारों में अनुप्रास और यमक तो प्रधान हैं ही।

देव ने अलङ्कारों का चयन किसी विशेष दृष्टिकोण या सिद्धांत के आधार पर नहीं किया है। सम्भवतः उन्होंने अपनी रुचि को ही प्रधानता दी है। यही कारण है कि एक ओर तो अल्प, अधिक तथा

[1] अर्थालंकार और शब्दालंकार मिला कर

असम्भव आदि को उन्होंने व्यर्थ में स्थान दे दिया है जो वैज्ञानिक दृष्टि-कोण से स्वतंत्र अलंकार कदापि नहीं कहे जा सकते और दूसरी ओर काव्यलिंग, प्रतिवस्तूपमा तथा परिसंख्या आदि प्रमुख अलङ्कारों को बिलकुल छोड़ दिया है जो अपरिहार्य कहे जा सकते हैं।

देव की व्यर्थ के भेद-विभेद तथा तूल देने की प्रवृत्ति ने सर्वत्र उनकी बहुत सी अच्छाइयों को अभिभूत कर लिया है। अलङ्कारों में कम से कम उपमा के सम्बन्ध में भी यही बात है। देव ने, उपमा के पचास से भी ऊपर भेद किये हैं। कुछ भी हो इतना तो कहा ही जा सकता है कि रीतिकालीन अलंकार ग्रन्थों में भाव-विलास का तो नहीं पर शब्दरसायन का लक्षण और उदाहरणों दोनों ही दृष्टियों से अपना एक महत्वपूर्ण स्थान है। देव के पूरे अलङ्कारों की सूची इस प्रकार है—स्वभावोक्ति, उपमा, उपमेयोपमा, संशय, अनन्वय, रूपक, अतिशयोक्ति, समासोक्ति, सहोक्ति, विशेषोक्ति, व्यतिरेक, विभावना, उत्प्रेक्षा, आक्षेप, दीपक, उदात्त, अपन्हुति, श्लेष, अर्थान्तरन्यास, व्याजस्तुति, अप्रस्तुतप्रशंसा, आवृत्तिदीपक, निदर्शना विरोध, परिवृत्ति, रसवत, ऊर्जस्वल, प्रेम, समाहित, क्रम, तुल्ययोगिता, भाविक, संकीर्ण, आशिष, लेश, सूक्ष्म, हेतु, पर्यायोक्ति, वक्रोक्ति, उल्लेख, समाधि, दृष्टांत, असम्भव, असंगति, परिकर, तद्गुण, अतद्गुण, अनुज्ञा, गुणवत, प्रत्यनीक, लेख, सार, मीलित, कारणमाला, एकावली, मुद्रा, मालादीपक, समुच्चय, सम्भवना, प्रहर्षण, गूढोक्ति, व्याजोक्ति, विवृतोक्ति, युक्ति, विकल्प, अत्युक्ति, भ्रांति, स्मरण, प्रयुक्ति, निश्चय, सम, विषम, अल्प, अधिक, अन्योन्य, सामान्य, विशेष, उन्मीलित, अर्थापत्ति, विहित, विधि, निषेध, तथा अन्योक्ति।

इनमें आरम्भ के ३६ अलंकार भाव-विलास के हैं।

(ङ) रीति या गुण

देव ने रीति का विवेचन शब्द रसायन के ७ वें प्रकाश में किया त के संबंध में वे लिखते हैं—

तातें पहले बरनिये काव्य द्वार रसरीति ।

अर्थात् वे रीति को काव्य का द्वार मानते हैं और रस से रीति को सम्बन्धित मानते हैं । इस रीति से देव का अर्थ गुण से है । डा० नगेन्द्र ने अपनी थीसिस में इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया है । वे लिखते हैं—

'परंतु एक बात बड़ी विचित्र मिलती है : वह यह कि इन्होंने (देव ने) रीति और गुण को एक कर दिया है.........इन दोनों का एकीकरण किसी ने नहीं किया ।' (देव और उनकी कविता, पृ० १६२)

सचमुच बात इतनी विचित्र नहीं है । आरम्भ में गुण सम्प्रदाय और रीति सम्प्रदाय एक ही थे । एक के स्थान पर दूसरे का प्रयोग होता था । देखिए—

'रीति क्या है ? पदों की विशिष्ट रचना है । रचना में यह विशेषता गुणों के कारण उत्पन्न होती है । रीति गुणों के ऊपर अवलम्बित रहती है । इसीलिए रीतिमत 'गुण सम्प्रदाय' के नाम से पुकारा जाता है ।' (भारतीय साहित्य शास्त्र—बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ २२)

अपने यहाँ अलङ्कार शास्त्र के ६ सम्प्रदाय रहे हैं—रस सम्प्रदाय, अलङ्कार सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय, वक्रोक्ति सम्प्रदाय तथा ध्वनि सम्प्रदाय । इसमें हम देखते हैं कि गुणों का कोई अलग सम्प्रदाय नहीं है । जैसा कि ऊपर उपाध्याय जी के उद्धरण में हम देख चुके हैं रीति सम्प्रदाय ही गुण सम्प्रदाय कहा जाता था । देव द्वारा गुणों के रीति कहे जाने का रहस्य यही है ।

गुणों का प्रथम उल्लेख भरत के नाट्यशास्त्र में ही मिलता है—

श्लेषः प्रसादः समता समाधिः माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम् ।
अर्थस्य व्यक्तिरुदारता च कांतिश्च काव्यस्य गुणा दशैते ॥

इससे दो निष्कर्ष निकलते हैं—

'१. भरत के अनुसार गुणों की संख्या श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता तथा कांति १० है ।

२. ये गुण काव्य के हैं ।

दंडी ने भी इनकी संख्या १० मानी है पर वे इन्हें 'इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः' कहते हैं, अर्थात् वैदर्भी रीति का प्राण समझते हैं।

दंडी के बाद वामन आते हैं। इन्होंने गुणों के अर्थ गुण और शब्द गुण दो-दो भेद कर उनकी संख्या २० कर दी।

कुंतक ने केवल ४ गुण माने हैं—माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य। और फिर प्रत्येक के विशिष्ट और साधारण दो-दो भेदकर कुल आठ भेद किये हैं।

ध्वनिकार आनंदवर्धन ने गुणों की संख्या घटाकर ३ कर दी और केवल माधुर्य, ओज और प्रसाद में सभी गुणों का अंतर्भाव कर दिया। उनके बाद उन्हीं के अनुकरण पर तीन ही गुण माने जाते रहे।

देव ने गुणों (जिसे उन्होंने रीति कहा है) की संख्या भरतादि के १० गुणों में अनुप्रास और यमक को जोड़कर १२ कर दी। इसका आशय यह है कि देव गुणों का संबंध केवल काव्य की आत्मा अर्थात् अर्थ से न मानकर शरीर अर्थात् वर्ण से भी मानते हैं नहीं तो अनुप्रास और यमक को यहाँ स्थान न देते। रसगङ्गाधरकार पंडितराज जगन्नाथ ने भी यही माना है।

देव के बारह गुण ये हैं—श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, ओज, समाधि, कांति, उदारता, अनुप्रास और यमक। श्लेष को इन्होंने गुण के प्रकरण में अर्थ श्लेष कहा है—

> अर्थ श्लेष, प्रासाद, सम मधुर भाव सुकुमार।
> अर्थ सुव्यक्ति, समाधि अरु कांति सुओज उदार।
> शब्द अर्थ दस भाव मिलि निकसै ये दस रीति।
> अनुप्रास जमकौ तहाँ शब्द-चित्र करि प्रीति॥

कांति, उदारता और यमक तथा अनुप्रास को छोड़कर शेष ८ देव ने दंडी के काव्यादर्श से लिए हैं। कहीं-कहीं तो अनुवाद सा कर

दिया है। कांति में दण्डी और वामन का सम्मिलित प्रभाव दिखाई पड़ता है। उदारता में उन्होंने दण्डी का सहारा तो लिया है पर कुछ परिवर्तन करके रक्खा है।[1]

यमक और अनुप्रास दो को छोड़कर शेष १० गुणों के देव ने नागर और ग्राम्य दो-दो भेद किए हैं। ग्राम्य के विषय में कहते हैं—

रस में अनरस अरथ में अनरथ बोल कुबोल।
जोग्य पदन अजोग्यता प्रगट ग्रामगति लोल॥

अर्थात् इसमें, सुरुचि का अभाव रहता है और नागर में सुरुचि रहती है। कहना न होगा कि यह नागर-ग्राम्य भेद भी भेद के लिए है। यदि, गुण कुरुचिपूर्ण हुआ तो वह गुण न कहा जाकर दोष कहा जायगा। इसके अतिरिक्त कांति तथा उदारता आदि तो ग्राम्य हो ही नहीं सकते। देव के उदाहरण स्वयं इस बात की घोषणा कर रहे हैं कि यह भेद व्यर्थ का है और उनकी व्यर्थतः भेद-विभेद कर तूल देने की प्रवृत्ति से उद्भूत हैं।

(च) दोष

डा० नगेन्द्र लिखते हैं—'तात्पर्य यह है कि दोषों को छोड़कर काव्य के प्रायः सभी अङ्गों का विवेचन देव के ग्रन्थों में पाया जाता है।' (देव और उनकी कविता, पृ० १२८)।

पर यथार्थतः बात यह नहीं है। दोषों का उल्लेख है पर केवल उल्लेख है और बहुत संक्षेप में। दोषों का आधार है औचित्य का व्यतिक्रम। यों तो दोष के वाक्य दोष, पद दोष, पदांश दोष, अर्थ दोष तथा रस दोष आदि भेद माने और कहे जाते हैं पर इस प्रकार विभाग अवैज्ञानिक हैं और इस अवैज्ञानिकता के कारण ही दोष की उचित प्रकृति तक लोगों का ध्यान कम गया है। सच पूछा जाय तो

[1] देव और उनकी कविता—डा० नगेन्द्र।

रस ही काव्य का प्राण है, अतः दोष तत्त्वतः रस पर आधारित हैं। दूसरे शब्दों में सभी दोष तत्त्वतः रस दोष हैं, क्योंकि उनके कारण रसों में ही बाधा पड़ती है। विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण में कहा भी है—दोष या तो रस की उत्कृष्टता में व्यवधान खड़ा कर देते हैं, या उसके आस्वादन में व्याघात उपस्थित कर देते हैं, या रस की प्रतीति ही रोक देते हैं। कहना न होगा कि विश्वनाथ का यह कहना ठीक ही है, साथ ही इस कहने से विश्वनाथ का भी यही आशय है कि दोष मूलतः रस दोष हैं।

एक बात और। दोषों को मूलतः रस दोष मानना यों तो ठीक ही है, पर रसवादियों की दृष्टि से तो और भी उचित है। विश्वनाथ ने इसी कारण इसे माना है। देव भी रसवादी थे। अतः उनके लिए भी दोषों को रसदोष मानना ही अधिक स्वाभाविक था।

देव ने रसों के विवेचन के उपरांत शब्द रसायन के पञ्चम प्रकाश में रस दोषों को उठाया है। यही दोषों का विवेचन है। यद्यपि जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है यह विवेचन अत्यन्त संक्षिप्त है।

रस दोष में 'उदास' में तो कोई विशेषता नहीं है पर 'नीरस' रस पूर्णतः रस दोष या दोष है। 'नीरस' के विरोध के अनुसार देव ने आठ भेद किए हैं—

> देस काल अरु बर्न बिधि यात्रा अरु संधानि।
> अरु रस भाव विरुद्ध ये आठ निरस पहिचानि।

अर्थात् देश, काल, वर्ण, विधि, यात्रा, संधि, रस और भाव के विरोध के अनुसार निरस रस आठ प्रकार का होता है। ध्यान देने की बात है कि इसमें यात्रा और सन्धि को छोड़ दें तो शेष देश, काल, वर्ण, विधि, रस तथा भाव दोष हमारे प्रचलित दोष हैं। देव ने इन सबके लक्षण तथा उदाहरण नहीं दिए हैं, अतः उनके स्वरूप पर विचार नहीं किया जा सकता।

देव के दोषों के सम्बन्ध में दो ही बातें निष्कर्ष स्वरूप कही जा सकती हैं : १. वे दोषों को रसवादी होने के कारण मूलतः रस दोष समझते थे, जो ठीक ही है, तथा २. दोषों के वे मूलतः देश, काल, वर्ण, विधि, यात्रा, सन्धि, रस और भाव—ये ८ भेद मानते थे।

यहाँ एक प्रश्न उठता है। ये निरसरस या रस दोष के ८ भेद हैं, तो इनमें फिर 'रस' को क्यों स्थान दिया गया है? मेरा अनुमान यह है कि दोष को मूलतः रस दोष मानने के कारण देव ने दोषों को रस दोष की संज्ञा दे दी पर फिर उसके भेद करने में प्रचलन के अनुसार भाव (अर्थ दोष), रस दोष, काल दोष, देश दोष, तथा विधि इत्यादि दोषों को स्थान देना पड़ा। हाँ, इसके लिए देव निर्दोष नहीं कहे जा सकते और उनके दोष वर्णन एवं वर्गीकरण का यह 'स्खलन' है।

६. वृत्तियाँ

इसका प्रथम उल्लेख भरत के नाट्य शास्त्र के २२ वें अध्याय में मिलता है। नाट्य शास्त्र की एक कथा के अनुसार मधु और कैटभ से युद्ध करते समय विष्णु ने जो चेष्टाएं कीं उन्हीं से चारों वृत्तियों का जन्म हुआ। चार वृत्तियाँ हैं—भारती, सात्वती, कैशिकी और आरभटी। चारों वृत्तियों का सम्बन्ध चार वेदों से भी माना जाता है—भारती ऋग्वेद से, सात्वती यजुर्वेद से, कैशिकी सामवेद से और आरभटी अथर्ववेद से। एक अन्य मत से ब्रह्मा के चारों मुख से चारों का जन्म हुआ है।

वृत्तियों का सम्बन्ध 'नाटक' से माना गया है, पर इसके काव्यगत प्रयोग भी हुये हैं। रीतियों के साथ भी इसका समन्वय हुआ है। देव ने भी यही चार वृत्तियाँ मानी हैं—उन्होंने चारों का सम्बन्ध तीन-तीन रसों से माना है। कैशिकी हास्य, करुण तथा शृंगार में, आरभटी रौद्र, भयानक और वीभत्स में, सात्वती वीर, रौद्र और अद्भुत में तथा भारती वीर, हास्य और अद्भुत में। देव ने यह रस सम्बन्ध केशव से लिया है। संस्कृत के भरत तथा विश्वनाथ आदि ने भी वृत्तियों का सम्बन्ध रसों से दिखाया है।

(ज) पदार्थ निर्णय

पदार्थ निर्णय या शब्दशक्तियों का विवेचन का अपने यहाँ बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। महत्वपूर्ण होने के साथ-साथ यह विषय अत्यन्त सूक्ष्म भी है। यही कारण है कि इस विषय को उठाया तो बहुतों ने है पर निर्वाह बहुत कम ने किया है।

देव ने शब्द-रसायन के प्रथम तथा द्वितीय प्रकाश में इस विषय को उठाया है। उनके अनुसार शब्दशक्तियाँ चार हैं—अभिधा, लक्षणा, व्यंजना तथा तात्पर्य।

अभिधा के सम्बन्ध में उनका विचार है—

शब्द बचन ते अर्थ कढ़ि चढ़ै सामुहे चित्त।
ते दोउ बाचक बाच्य हैं अभिधावृत्ति निमित्त।

अर्थात् अभिधा में सीधा और स्पष्ट अर्थ लिया जाता है। अभिधा के शुद्ध अभिधा के अतिरिक्त अभिधा में अभिधा, अभिधा में लक्षणा और अभिधा में व्यंजना ये तीन भेद किये गये हैं। देखिये—

सुद्ध अभिधा है, अभिधा मैं अभिधा है, अभिधा मैं लक्षणा है, अभिधा मैं व्यंजना कहौ।

इन चारों भेदों के अतिरिक्त अभिधा के चार और भी भेद देव ने किये हैं—

जाति क्रिया गुन यदृच्छा चारौ अभिधा मूल।

अर्थात् अभिधा के जाति, क्रिया, गुण और यदृच्छा—ये चार भेद होते हैं। भामह आदि ने भी इस प्रकार भेद किए हैं। देव इन चार के अतिरिक्त और भी बहुत से भेद मानते हैं—

मूल भेद औरौ बहुत याते कहे अनेक।

पर प्रधानता के कारण केवल चार को स्वीकार किया है।

लक्षणा के विषय में देव लिखते हैं—

रूढ़ि करैं कछु प्रयोजन अर्थ सामुहे भूल।
निहितट प्रगटे लाक्षनिक लक्ष्य लक्षना मूल।

अर्थात् सीधे और स्पष्ट अर्थ को भूल लाक्षणिक अर्थ रूढ़ि या प्रयोजन के कारण लें तो लक्षणा होती है। लक्षणा के रूढ़ि लक्षणा और प्रयोजन या प्रयोजनवती लक्षणा दो भेद होते हैं। फिर रूढ़ि का तो एक ही भेद होता है पर प्रयोजनवती के शुद्ध और मिलित दो भेद होते हैं।[1] प्रयोजनवती, जहत स्वभाव और अजहत स्वभाव दो भागों में बँटती है, और फिर दोनों के सारोपा-साध्यवसाना दो-दो भेद होते हैं। इस प्रकार शुद्ध के चार भेद होते हैं। मिलित के भी सारोपा और साध्यवसाना दो भेद होते हैं। यहाँ तक प्रयोजनवती के छः भेद हुये। इन छः के प्रत्येक के अगूढ़ व्यंग्या और गूढ़ व्यंग्या दो-दो भेद और किये गये हैं, अतः कुल १२ भेद हुए और रूढ़ि लक्षणा जोड़कर १३ हुये। मम्मट ने भी अपने काव्य प्रकाश में लक्षणा के १२ भेद किये हैं। आगे चलकर अभिधा की भाँति लक्षणा के भी शुद्ध लक्षणा, लक्षणा में अभिधा, लक्षणा में लक्षणा तथा लक्षणा में व्यंजना ये चार भेद किये गये हैं। फिर अभिधा के अन्य चार भेदों की भाँति लक्षणा के—

'कारज कारण सदृशता वैपरित्य आक्षेप'

कार्य-कारण, सादृश्य, वैपरीत्य तथा आक्षेप चार भेद और किये गये हैं। ये चार भी संक्षेप हैं, अर्थात् देव इस प्रकार के और भेद भी मानते थे, केवल प्रधान को यहाँ दिया है।

व्यंजना के विषय में देव लिखते हैं—

समुझे कढ़े न फेर सों झलकै और इंग्य।
वृत्ति व्यंजना धुनि लिये दोऊ व्यंजक व्यंग्य॥

अर्थात् अभिधा और लक्षणा दोनों बाध होने पर कुछ और ही अर्थ व्यंजित होने पर व्यंजना होती है। व्यंजना के शुद्ध व्यंजना, व्यंजना

---

[1] रूढ़ि करै कछु व्यंग्य बिन एक प्रकार बखानि।
द्विविध प्रयोजन लक्षना सुद्ध मिलित पहिचानि॥

में अभिधा, व्यंजना में लक्षणा तथा व्यंजना में व्यंजना ये चार भेद किये गये हैं। फिर आगे—

वचन क्रिया स्वर चेष्टा इनके जहाँ विचार।
चारि व्यंजना मूल ये भेदांतर धुनि सार॥

अभिधा तथा लक्षणा की तरह व्यंजना के वचन, क्रिया, स्वर तथा चेष्टा के आधार पर चार भेद किये गये हैं।

देव द्वारा मानी गई चौथी शब्द शक्ति 'तात्पर्य' है। अधिक आचार्यों ने केवल ३ ही शक्तियाँ मानी हैं। यह नवीन शब्द शक्ति देव की कोई मौलिक देन नहीं है। 'नैयायिकों की तात्पर्य वृत्ति बहुत काल से प्रसिद्ध चली आ रही है और वह संस्कृत के सब साहित्य-मीमांसकों के सामने थी। तात्पर्य वृत्ति वास्तव में वाक्य के भिन्न-भिन्न पदों (शब्दों) के वाच्यार्थ को एक में समन्वित करने वाली वृत्ति मानी गई है, अतः वह अभिधा से भिन्न नहीं, वाक्यगत अभिधा ही है।'[1]

देव तात्पर्य के विषय में लिखते हैं—

तातपर्ज चौथो अरथ तिहूँ शब्द के बीच।
अधिक मध्यम लघु वाच्य धुनि उत्तम मध्यम नीच।

अर्थात् तात्पर्य की स्थिति उपर्युक्त तीनों में रहती है। तात्पर्य का मीमांसकों के अतिरिक्त संस्कृत के मम्मट तथा विश्वनाथ एवं हिंदी के चिंतामणि आदि आचार्यों ने भी उल्लेख किया है। पर जैसा कि ऊपर आचार्य शुक्ल के उद्धरण में कहा जा चुका है, इस 'तात्पर्य' की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं। यह एक प्रकार की अभिधा ही है। स्वयं मीमांसकों में भी कुछ ने (प्रभाकर गुरु आदि) इसे व्यर्थ बतलाया है।[2] अतः कहना न होगा कि यह चौथी शक्ति अनावश्यक है और देव ने भी सम्भवतः केवल विचित्रता प्रदर्शन के लिये इसे अपना लिया है।

---

[1] रामचन्द्र शुक्ल

[2] डा० नगेन्द्र

देव के पदार्थ निर्णय पर विहंगम दृष्टि दौड़ाने से ही स्पष्ट हो जाता है कि इस गम्भीर विषय को उन्होंने केवल चलता सा परिचय दे दिया है और भेद विस्तार एवं वैचित्र्यप्रियतावश अभिधा, व्यंजना और लक्षणा के आठ अतिरिक्त भेद तथा 'तात्पर्य' नाम की चौथी शब्द शक्ति मान ली है। ये सभी नवीनताएँ एक तो नवीनता या उनकी मौलिक उद्भावनाएँ नहीं हैं और दूसरे व्यर्थ भी हैं।

(ऋ) नायक भेद

नायक भेद भी आचार्यों का एक विषय रहा है। लेखनी प्रायः पुरुषों के हाथ में रही है इसी कारण नायिकाओं के तो अनेक भेद किए गए हैं पर नायकों के बहुत कम। यदि लेखनी प्रायः स्त्रियों के हाथ में होती तो शायद नायकों के भी बहुत से भेद-विभेद मिलते। अपने यहाँ नायक के प्रायः धीर प्रशांत, धीर ललित, धीरोदात्त तथा धीरोद्धत चार भेद मिलते हैं। शृङ्गार के विचार से इन चारों के पुनः अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ठ चार-चार भेद होते हैं। धनंजय आदि ने नायक (नाटक के प्रधान पात्र) में २३ गुणों का होना आवश्यक बतलाया है। देव ने नायक भेद में प्रथम चार को न लेकर केवल पिछले चार को स्वीकार किया है—

नायक कहियतु चारि विधि सुनत जान सब खेद।

अर्थात् नायक के ४ भेद होते हैं। देव आगे लिखते हैं—

प्रथम होइ अनुकूल अरु, दक्षिण अरु सठ धृष्ठ।

अर्थात् अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ठ।

शायद शृंगार प्रिय होने से केवल इन भेदों को देव ने स्वीकार किया है।

जिस प्रकार नायिका की सहायिका दूती, दासी आदि होती हैं उसी प्रकार नायक के सहायक नर्म सचिव, विट् तथा विदूषक आदि होते हैं। उनका भी यहाँ संक्षेप उल्लेख है।

देव के नायक भेद में कोई विशेषता नहीं है।

प्रादुर्भूत मनोभवा (सत्रह से अट्ठारह), प्रगल्भ वचना (अट्ठारह से उन्नीस), विचित्र सुरता (उन्नीस से बीस)।

(ग) प्रौढ़ा के चार भेद—लब्धापति (बीस से इक्कीस), रतिकोविदा (इक्कीस से बाइस), आक्रांतनायका (बाइस से तेइस), सविभ्रमा (तेइस से चौबीस)।

४. अंश-भेद के आधार पर (स्वकीया भेद)—देवी (सात वर्ष तक), देव गन्धर्वा (सात से चौदह), गन्धर्वा (चौदह से इक्कीस), गन्धर्वमानुषी (इक्कीस से अट्ठाइस), मानुषी (अट्ठाइस से पैंतिस) ।

५. पति के प्रेम के आधार पर (स्वकीया भेद)—ज्येष्ठा, कनिष्ठा ।

६. मान के आधार पर (स्वकीया भेद)—धीरा, धीराधीरा, अधीरा ।

७. परकीया के भेद—प्रौढ़ा (ऊढ़ा), कन्यका (अनूढ़ा) ।

(क) प्रौढ़ा के छः भेद—गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, अनुशयना, मुदिता। विदग्धा के दो भेद—वाक्, क्रिया ।

८. मनोदशा के आधार पर ३ भेद—पररतिदुःखिता, गर्विता, मानिनी ।

(क) गर्विता के ८ भेद (आठों अंगों के आधार पर)—यौवन, रूप, गुण, शील, प्रेम, कुल, वैभव, भूषण ।

९. अवस्था भेद से ८ भेद—स्वाधीना, उत्कंठिता, वासकसज्जा, कलहांतरिता, खंडिता, विप्रलब्धा, प्रोषितप्रेयसी, अभिसारिका ।

१०. गुण के आधार पर भेद—उत्तमा, मध्यमा, अधमा ।

११. प्रकृति के आधार पर ३ भेद—वात, पित्त, कफ[1] ।

---

[1]यह भेद काम शास्त्र से लिया गया है। काम शास्त्र में कफिनी नायिका के विषय में 'कफिनीदृढ़रागास्यात्छ्यामा सुस्निग्ध-लोचना'; पित्तला नायिका के विषय में 'पित्तला शोणनयना गौरांगी

१२. सत्व के आधार पर ६ भेद—सुर, किन्नर, नर, पिशाच, नाग, खर, कपि, काक।

१३. देश के आधार पर २६ भेद—मध्यदेश, मगध, कौशल, पाटल, उत्कल, कलिंग, कामरूप, बंग, विधवन, मालव, आभीर, विराट, कुंकल, केरल, द्राविड़, तिलंग, करनाटक, सिंधु, गुजरात, मारवाड़, कुरु देश, कूर्म, पर्वत, भुटंत, काश्मीर, सौवीर (रस विलास)।

१४. वास के आधार पर ६ भेद—नागरी, पुरवासिनी, ग्रामीणा, वनवासिनी, सैन्या, पथिकतिय।

(क) नागरी के ३ भेद—देवल, रावल, राजपुर।

i देवल के ३ भेद—देवी, पूजनहारी, द्वारपालिका।

ii रावल के ५ भेद—राजकुमारी, धाय, सखी, दूती, दासी।

iii राजपुर के १३ भेद—जौहरिन, छीपिन, पटवाइन, सुनारिन, गंधिन, तेलिन, तमोलिन, हलवाइन, मोदियाइन, कुम्हारिन, दरजिन, चूहरी, गणिका।

(ख) पुरवासिनी के ६ भेद—ब्राह्मणी, राजपूतनी, खतरानी, वैश्यानी, कायस्थनी, शूद्रिनी, नाइन, मालिन, धोबिन। (क्या ये ग्राम या राजनगर में नहीं होती ?)

(ग) ग्रामीणा के ५ भेद—अहीरिन, काछिन, कलारिन, कहारी, नुनेरी।

(घ) वनवासिनी के ३ भेद—मुनितिय, व्याधिनी, भीलनी।

(ङ) सैन्या के ३ भेद—नृपली, वेश्या, मुकेरनी।

कुशलारते' 'तथा वातुला के विषय में 'वातुला तु कठोरांगी चंचला कृष्णा पाणिजा; श्याम धूसर वर्णाश्च बहुभोज्या प्रलापिनी' लिखा है।

(च) पथिकातिय के ४ भेद---वनिजारिन, जोगिन, नटी, कँभेरनि।

इनके अतिरिक्त ज्ञात यौवना तथा अज्ञात यौवना, एवं प्रवत्सत-पतिका तथा आगमपतिका आदि भेद भी हैं।

देव का संक्षेप में यही नायिका भेद है। साधारण नायिका भेद से इसमें बहुत कुछ विशेषताएँ हैं। विशेषताओं का कुछ भाग तो इन्होंने काम शास्त्र, भानुदत्त, केशव एवं अन्य आचार्यों से लिया है और कुछ स्वयं बढ़ाया है। किन्तु दोनों में किसी में भी सूक्ष्मता या गम्भीर चिंतन प्राय: नहीं है। अनावश्यक और अव्यवस्थित विस्तार आचार्य के मस्तिष्क की अवैज्ञानिकता ही व्यक्त करता है। देव ने अपने नायिका भेद की स्वयं भी गणना की है---

स्वीय तेरह भेद करि द्वै जु भेद परनारि
एक जु बेस्या ये सबै, सोरह कहो विचारि
एक एक प्रति सोरहों, आठ अवस्था जानु
जोरि सबै ये एक सौ, अट्ठाईस बखानु
उत्तम मध्यम अधम करि, ये सब त्रिविध विचार।
चौरासी अरु तीनि सै, जोरें सब विस्तार।

अर्थात् १३ (स्वकीया) + २ (परकीया) + १ गणिका × ८ (अवस्था) × ३ (उत्तम, मध्यम, अधम) = ३८४ भेद।

पर सत्य यह है कि देव के नायिका भेदों पर यदि ज़रा अच्छी तरह विचार करें तो संख्या कई हज़ार तक पहुँच सकती है।

नायिका भेद के साथ ही दूती, सखी तथा दासी आदि के भी वर्णन की परम्परा है। देव ने भी इनके वर्णन शब्द-रसायन, भाव-विलास तथा रस-विलास आदि में किए हैं। इनकी दौत्य कर्म करने वालों की सूची में धाय, सखी, दासी, नटी, ग्वालिनी दस्तकारिनि, मालिन, नाइन, कन्या, विधवा, सन्यासिनि, भिखारिन और अपने

किसी सम्बन्धी की स्त्री आदि हैं। यह उस काल के समाज का सच्चा चित्र है। इन्हीं वर्गों की स्त्रियाँ द्वारा व्यभिचार में सहायता मिलती थी। देव के नायिका भेद की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इन्होंने स्वकीया को सर्वत्र सर्वोच्च कहा है। आचार्य और शृङ्गार रस के कवि होते हुए भी इन्होंने अन्य (परकीया तथा सामान्या आदि) की निन्दा की है :

पात्र मुख्य सिंगार को, सुद्ध स्वकीया नारि।

....

पर रस चाहै परकिया तजै आपु गुन गोत।

....

काँची प्रीति कुचालि की बिना नेह रस रीति।

(ट) पिङ्गल

देव ने 'शब्द रसायन' के १० वें और ग्यारहवें प्रकाश में पिंगल पर विचार किया है। प्रायः संस्कृत और हिंदी के रीतिकार रस, अलङ्कार, शब्द शक्ति तथा गुण आदि पर तो विचार करते रहे हैं पर पिंगल पर नहीं या बहुत कम। यही कारण है कि संस्कृत तथा हिंदी दोनों ही में पिंगल पर अधिक पुस्तकें नहीं मिलतीं। छन्दों के विवेचन में कुछ अपवादों को छोड़कर प्रायः मौलिकता की गुंजाइश नहीं रहती, इसी कारण सम्भवतः लोगों का ध्यान प्रायः इधर कम जाता था।

देव छन्द को कविता कामिनी की गति मानते हैं।[१] पिंगल वर्णन में आरम्भ में उन्होंने छन्द के मात्रावृत्त और वर्णवृत्त नाम के दो भेद किये हैं—

एक मात्रा वृत्त अरु बरन वृत्त है एक।

आगे फिर गणों पर विचार, लघु गुरु स्वरूप, आठ गण और

---

[१] चलत चहूँ जुग छन्द गति......(शब्द रसायन)

उनके देवता तथा गण प्रस्तार आदि हैं। देव द्वारा दिये गये गण, देवता और फल इस प्रकार हैं—

गण	देवता	फल
मगण	भूमि	संपत्ति
नगण	नाग	सुख
भगण	चन्द्र	यश
यगण	जल	वृद्धि
जगण	सूर्य	रोग
रगण	अग्नि	मृत्यु
सगण	वायु	दूर गमन
तगण	आकाश	निराशा

वर्ण वृत्त के देव ने ३ भेद किये हैं—गद्य, पद्य, दण्डक।

गद्य की देव ने परिभाषा दी है—

बिना चरन को काव्य सो गद्य छुद्ध रस गर्भ।

अर्थात् बिना चरण के काव्य को गद्य कहते हैं। देव का गद्य का उदाहरण विचित्र है। उसमें श्री वृन्दावन विहारण के बहुत से विशेषण रखे गये हैं—

महाराज राजाधिराज राज व्रजजन समाज विराजमान चतुर्दश भुवन विराज वेद विधि विद्या सामग्री समाज श्री कृष्ण देव देवादि......
और अन्त में 'जय जय' है।

गद्य के ३ भेद भी किये गये हैं—वृत्त गद्य, चूर्णिका गद्य और उत्कलिका गद्य, पर न तो किसी का उदाहरण है और न लक्षण।

देव के अनुसार पद्य वह है जिसमें ३ वर्ण से २६ वर्ण तक हों। वर्ण वृत्त का तीसरा भेद दण्डक २७ से ३३ वर्णों का माना गया है।

११ वें प्रकाश में मात्रा वृत्तों का वर्णन है जिनमें गाहा, दोहा, सोरठा, रोला, कुंडलिया, पादाकुलक, अरिल्ल, चौपैया, त्रिभंगी तथा हरिगीत आदि प्रधान हैं। अन्त में 'मेरु पताका मर्कटी नष्ट और

उद्दिष्ट' को केवल 'कौतुक' कहा है ; अर्थात् इन छन्दों के प्रयोग के पक्ष में देव नहीं थे।

देव निःसंदेह बड़े प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति थे। अन्य क्षेत्रों की भाँति पिंगल में भी उन्होंने अपनी मौलिकता का प्रदर्शन—तथा अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा अधिक सफल प्रदर्शन—किया है। उनके पिंगल विचार की सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि इन्होंने घनाक्षरी में ३१ तथा ३२ वर्णों के अतिरिक्त ३३ वर्ण की (३० वर्ण की भी एक है) भी घनाक्षरी मानी है। यह घनाक्षरी हिंदी साहित्य में 'देव घनाक्षरी' के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार पिंगल के क्षेत्र में अपनी विशिष्टता के कारण देव अमर हैं। देव घनाक्षरी में ३३ वर्ण होते हैं और अन्तिम ३ वर्ण लघु होते हैं। 'छन्द प्रभाकर' के अनुसार इनके अन्त में दुहरे प्रयोग अच्छे लगते हैं। इसका देव द्वारा दिया गया उदाहरण देखिये —

> झननि भिरत चहुँघाई ते घिरत घन,
> आवत भिरत भीने भरसों भपकि-भपकि।
> सोरनि मचावैं नाचैं मोरनि की पाँति चहुँ-
> ओरन ते चौंधि जाति चपला लपकि-लपकि।
> बिन प्रानप्यारे प्रान न्यारे होत 'देव' कहैं
> नैन अँसुवानि रहे अँसुवा टपकि-टपकि।
> रतियाँ अँधेरी धीर तिया न धरत मुख
> बतिया कहति उठै छतियाँ तपकि-तपकि।

मदिरा, किरीट, मालती, चित्रपदा, मल्लिका (सुमुखी), माधवी, दुर्मिल तथा कमला—ये सवैया के प्राचीन ८ भेद प्रसिद्ध हैं। देव ने बड़ी चातुरी के साथ 'मैल भगा बसुभा······' एक सवैए में केवल भगण के सहारे इन आठों के लक्षण कह दिए हैं। (दे० पीछे पृष्ठ ६३) इसमें क्लिष्टता अवश्य है पर कला भी कम नहीं है। घनाक्षरी की भाँति ही सवैया के क्षेत्र में भी इन्होंने मौलिकता दिखलाई है और मञ्जरी, ललित, सुधा और अलसा नाम की ४ नवीन सवैयों को जन्म दिया है।

इस प्रकार इन्होंने सवैयों के १२ भेद दिखलाए हैं। संस्कृत के वृत्त रत्नाकर और छन्दोमञ्जरी आदि ग्रन्थों की भाँति देव ने छन्दों का लक्षण और उदाहरण एक ही छन्द में रक्खा है। यह सीखने वालों के लिए अत्यन्त सुकर है।

इन मौलिकताओं और अच्छाइयों के होते हुए भी देव का पिंगल-प्रकरण अशुद्धियों से मुक्त नहीं कहा जा सकता। अशुद्धियाँ प्रायः तीन प्रकार की हैं। कुछ में तो लक्षण अशुद्ध हैं और कुछ में उदाहरण, तथा कुछ में लक्षण-उदाहरण दोनों ही अशुद्ध हैं। वर्णिक वृत्तों का एक भेद तोटक लीजिए। 'भानु' के 'छन्द प्रभाकर' के अनुसार इसमें चार सगण (ससिसो स अलंकृत तोटक है) होने चाहिए, पर देव ने लिखा है—

सुमुखी सुमुखी दुगुनी तिलका,
सुमुखी तिलका मिलि तोटक है।

सुमुखी (१ सगण) तथा तिलका (२ सगण) मिलकर तोटक के होने का अर्थ है केवल तीन सगण। इस प्रकार इसमें उदाहरण-लक्षण दोनों अशुद्ध हैं। इसी प्रकार मौक्तिकदाम में भी अशुद्धि है। 'कुमार ललित' छंद में अन्त में एक गुरु रखने का नियम है। देव ने भी यह दिया है पर उदाहरण में अन्त में दो गुरु हैं। कहना न होगा कि यह उदाहरण अशुद्ध है। कुछ छन्दों के लक्षण और उदाहरण परम्परा से भिन्न रक्खे गए हैं जैसे आरत।

देव ने छन्दों के चयन में अपने अलङ्कारों की ही भाँति किसी सिद्धान्त के आधार पर चयन न कर अपनी रुचि से किया है। इसी कारण एक ओर तो 'चौपाई' आदि प्रसिद्ध छन्द छूट गए हैं और दूसरी ओर 'चञ्चला', 'आभीर' तथा 'मधुभार' आदि अप्रसिद्ध छन्द ले लिए गए हैं।

(ठ) आचार्य देव—एक मूल्यांकन

देव रीतिकाल के सर्वश्रेष्ठ कवियों में से हैं। कवि होने के साथ-

साथ उन्होंने रीतिग्रन्थों का भी प्रणयन किया है अतः वे आचार्य भी कहलाने के अधिकारी हैं? इस सम्बन्ध में बड़ा विवाद है। एक ओर तो मिश्र बन्धु आदि हैं जो शिवसिंह सेंगर के स्वर में स्वर मिलाकर देव को हिंदी का मम्मट मानते हैं और दूसरी ओर शुक्लजी तथा लाला भगवानदीन आदि हैं जो कुछ और बातें कहते हुए कहते हैं—'अतः आचार्य रूप में देव को कोई भी विशेष स्थान नहीं दिया जा सकता।' ऐसी दशा में कुछ निर्णय देने के पूर्व पूरी परिस्थिति पर एक विहंगम दृष्टि डाल लेना उचित होगा।

देव ने समर्थ या अच्छी कविता के लिए शब्द, अर्थ, रस, भाव, छन्द और अलङ्कार इन सभी को आवश्यक माना है। शब्द रसायन में वे लिखते हैं—

शब्द सुमति मुख तें कढ़ै लै पद बचननि अर्थ।
छंद भाव भूषन सरस सो कहि काव्य समर्थ।

इनमें रस को तो काव्य का प्राण मानते हैं—

काव्य सार शब्दार्थ को रस तेहि काव्य सुसार।

इसी कारण उन्हें रसवादी कहते हैं। अलङ्कार को वे सौंदर्य का वर्द्धक (स्त्रियों के आभूषण की भाँति) मानते हैं—

कविता कामिनि सुखद पद, सुबरण सरस सुजाति।
अलङ्कार पहिरे अधिक अद्भुत रूप लखाति।

छन्द को उन्होंने कविता कामिनी की गति माना है—

'चलत रीति सों छन्द गति......'

पदार्थ निर्णय के प्रकरण में प्रायः सभी आचार्य अभिधा को अधम, लक्षणा को मध्यम और व्यञ्जना को उत्तम समझते हैं पर देव ने इस क्रम को उलट दिया है। वे लिखते हैं—

अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लक्षना लीन।
अधम व्यञ्जना रस-कुटिल, उलटी कहत नवीन।

दोहे का अर्थ स्पष्ट है। अभिधात्मक उत्तम काव्य है और लक्षणात्मक

मध्यम तथा रस के लिए टेढ़ा (कुटिल) होने के कारण व्यंजनात्मक अधम है; नये लोग उलटी बात कहते हैं। (यह स्पष्ट नहीं है कि किस प्राचीन आचार्य ने इस प्रकार माना है।)

इस दोहे में 'व्यञ्जना' शब्द का अर्थ शुक्लजी 'पहेली बुझौवल वाली वस्तु व्यंजना' करते हैं। सीधी बात यह है कि रसवादी होने के कारण देव ने व्यंग्य से वाच्य को अधिक महत्वपूर्ण माना है। दोहे में उन्होंने स्वयं इसका कारण भी दिया है—व्यंजना रस-कुटिल है। बात भी प्रायः सत्य है। व्यंजना या व्यंग्य को हृदयंगम करने में समय लगता है अतः रस में व्याघात पड़ता है, अतएव व्यञ्जना 'रस-कुटिल' है। रस काव्य का प्राण है, इसलिए उसका व्याघातक रसवादी की दृष्टि में अवश्य ही 'अधम' होगा[1]।

ये हैं आचार्य देव के काव्यांग सम्बन्धी विचार। कहना न होगा कि इनमें प्रायः सभी उचित और समीचीन हैं, अंतिम शब्द शक्तियों से सम्बन्धित विचार अवश्य नवीन और आश्चर्य में डाल देने वाला है, पर साथ ही वह पूर्ण मौलिक और देव के दृष्टिकोण को देखते हुए न्याय-संगत भी है।

अब देव द्वारा वर्णित रस, अलङ्कार आदि विभिन्न चीज़ों को लीजिए।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है देव रस को काव्य का प्राण मानते थे, साथ ही उसे भारतीय पद्धति के अनुसार आनन्दयुक्त भी मानते थे। इनका विवेचन प्रधानतः भाव-विलास तथा शब्द-रसायन में किया है। उनके अनुसार नाटक में ८ तथा काव्य में ९ रस होते हैं। यह भी आचार्यों की प्रचलित परंपरा है। आगे रसों के विस्तार में देव ने प्रचलित परंपरा छोड़ दी है। वे रस के लौकिक और अलौकिक दो

[1] अलंकारों में देव ने स्वभावोक्ति को उपमा के साथ प्रधान माना है। यह भी इसी ओर संकेत करता है।

भेद मानते हैं। आगे फिर अलौकिक के स्वापनिक, मानोरथिक और औपनायक तीन भेद किए गए हैं। इन तीनों के लक्षण नहीं हैं पर उदाहरण हैं। यह नवीनता भानुदत्त की रस तरंगिणी से ली गई है। शृंगार के भेद में विशेषता यह है कि संयोग और वियोग के प्रच्छन्न और प्रकाश दो-दो भेद किए गए हैं। यह देव ने केशव या भोज के शृंगार प्रकाश से लिया है। वियोग शृङ्गार के कई भेद और उपभेद किए गए हैं जिनमें कुछ तो उचित हैं और कुछ भेद मात्र करने के लिए हैं। हास्य के प्रचलित हसित, अति हसित आदि ६ भेदों के स्थान पर उत्तम, मध्यम, अधम; करुणा के करुण, अतिकरुण, महाकरुण, लघुकरुण, सुखकरुण; बीभत्स में जुगुप्सा के दो भेद: वीर के दान, युद्ध, दया ३ भेद; शांतके शुद्ध, शांतिमूलक, दो भेद तथा अद्भुत, रौद्र, और भयानक के एक ही एक भेद हैं। रस वर्णन की नवीनताओं में मौलिकता नहीं है। वे किसी न किसी आचार्य से ली गई हैं, इसके अतिरिक्त इन मौलिकताओं और भेद-विभेदों को अवैज्ञानिक ही कहा जायगा। देव के रस विवेचन की एक ही वस्तु ने विद्वानों का ध्यान अधिक आकर्षित किया है और वह है 'छल' नाम का ३४ वाँ संचारी। इसके सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल लिखते हुये कहते हैं कि 'छल' 'अवहित्था' के अन्तर्गत ही आ जाता है, पर देव ने भानुदत्त के अनुकरण पर छल को 'अवहित्था' से अलग माना है। किंतु यह अन्तर तर्कसङ्गत नहीं है और इसे समझने की कोशिश न कर उन्होंने रस तरंगिणी से अनुवाद-सा कर दिया है। शुक्ल जी ने यह भी लिखा है कि ३३ सञ्चारी तो उपलक्षण मात्र हैं, सञ्चारी और भी कितने हो सकते हैं। इस प्रकार 'छल' संचारी कोई महत्वपूर्ण नवीनता नहीं है और इसके अतिरिक्त यदि हो भी तो देव की अपनी चीज़ नहीं है।

अंततः देव के रस विवेचन के बारे में कहा जा सकता है कि उनकी कोई मौलिक उद्भावना नहीं है, नवीनताएँ प्रायः अनुकरण मात्र

हैं, केवल भेद विस्तार उन्होंने अवश्य बहुत अधिक किए हैं जो प्रायः निरर्थक है।

अब अलङ्कारों को लीजिए। अलङ्कारों का वर्णन भाव-विलास तथा शब्द रसायन में है। भाव-विलास में ३६ अलङ्कार तथा शब्दरसायन में प्रायः ८४ हैं। भाव-विलास के ३७ अलङ्कार दंडी से तथा दो पर्यायोक्ति और वक्रोक्ति केशव से लिए गये हैं। शब्द रसायन में दिए गए नवीन अलङ्कारों के लिये देव उद्भट, रुद्रट, भोज, मम्मट, जयदेव, कुवलयानंदकार, विश्वनाथ तथा केशव के ऋणी हैं। उपमा के व्यर्थ के बहुत से निरर्थक भेदों के अतिरिक्त अलङ्कार-निरूपण में देव की महानता कहीं भी दृष्टिगत नहीं होती। इस प्रकार अलङ्कार के क्षेत्र में भी उनका कोई योग नहीं है। हाँ, एक विशेषता इस सम्बन्ध में उल्लेख्य अवश्य है। वे स्वभावोक्ति को सर्वश्रेष्ठ अलङ्कार मानते हैं। इसका कारण है उनका एकांत रसवादी होना।

गुणों को देव ने रीति नाम से पुकारा है। यह सम्भवतः इसलिए कि रीति सम्प्रदाय को गुण सम्प्रदाय भी कहा जाता रहा है और दोनों का विवेचन साथ-साथ चलता रहा है। गुणों की संख्या विभिन्न रही है। देव ने प्रचलित दस गुणों—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदार और कांति में अनुप्रास और यमक को जोड़कर उनकी संख्या १२ कर दी है। इनमें प्रथम १० के 'नागर' और 'ग्राम्य' दो विभेद किए हैं। यह उनकी नवीनता अवश्य है पर यह है अवैज्ञानिक। जैसा कि डा० नगेन्द्र ने कहा है 'कांति', आदि कुछ गुण तो 'ग्राम्य' होने पर गुण रह ही नहीं जायँगे। अनुप्रास और यमक को जोड़कर गुणों की संख्या को १२ करने में भी कोई महत्वपूर्ण विशेषता नहीं दिखाई पड़ती। ऐसे तो सभी अलङ्कार गुण माने जा सकते हैं और शायद सभी शब्द शक्तियाँ भी।

दोषों में केवल रस दोष का उल्लेख है तथा उसके भेद भी हैं।

कुछ के उदाहरण भी हैं, पर यह सब इतने संक्षेप में हैं कि कुछ समझ में नहीं आता। वृत्तियों के निरूपण में भी प्रायः कोई विशेषता नहीं है।

पदार्थ निर्णय में देव के विवेचन में दो विशेषताएँ हैं। एक तो इन्होंने 'अभिधा' को उत्तम और व्यंजना को अधम माना है, जिसके विषय में ऊपर कहा जा चुका है। दूसरे प्रचलित अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के अतिरिक्त इन्होंने एक चौथी वृत्ति 'तात्पर्य वृत्ति' मानी है। यह भी देव की मौलिकता नहीं है। नैयायिकों में यह प्राचीन काल से चली आ रही है, यद्यपि प्रभाकर गुरु आदि गुरुमत सम्प्रदाय के नैयायिकों ने इसका विरोध भी किया है। शुक्ल जी ने इस सम्बन्ध में कहा है कि इस वृत्ति को स्वतंत्र मानने की आवश्यकता नहीं। 'यह वाक्य के भिन्न-भिन्न पदों (शब्दों) के वाच्यार्थ को एक में समन्वित करने वाली वृत्ति मानी गई है, अतः अभिधा से भिन्न नहीं है।' यह वाक्य गत अभिधा ही है। इस प्रकार यहाँ भी कोई महत्वपूर्ण विशेषता नहीं है।

रीतिकालीन शृङ्गार रस प्रिय कवि होने के कारण देव का नायक-नायिका भेद में मन खूब रमा है। नायक के तो उन्होंने ४ भेद किये हैं और नायिकाओं के ३८४—

नायक कहियतु चारि विधि सुनत जात सब खेद।
चौरासी अरु तीन सै कहत नायिका भेद॥

विस्तारप्रिय देव को यहाँ अपनी विस्तार प्रियता को तुष्ट करने का अच्छा अवसर मिला है और उन्होंने प्रचलित नायिका भेदों के अतिरिक्त वात, पित्त, कफ प्रकृति के आधार पर, गुजराती, मारवाड़ी, पर्वती आदि देशों के आधार पर एवं मालिन, धोबिन, नाइन आदि कार्य के आधार पर भेद-विभेद कर डाले हैं। इस सम्बन्ध में २ बातें कही जा सकती हैं—

१. इस विभाजन में कोई चिंतन या मनोविज्ञान का आधार नहीं लिया गया है। मन माने भेद कर दिये गये हैं।

२. प्रायः अधिक नवीनताएँ देव की मौलिक न होकर प्राचीन ग्रंथों से ली हुई हैं ; जैसे प्रकृति के आधार पर वातुला, पित्तला और कफिनी का वर्णन कामशास्त्र में भी मिलता है। इसी प्रकार कार्य और देश के आधार पर किये गये भेदों के संकेत भी पुराने ग्रन्थों में मिल जाते हैं।

इस तरह इस क्षेत्र में भी देव की कोई विशिष्ट देन नहीं है।

अब अन्तिम चीज़ पिंगल है। पिंगल का विवेचन देव ने शब्द रसायन के १० वें और ११वें प्रकाश में किया है। यह निरूपण भी प्रायः चलता-सा है और इसमें अशुद्धियाँ भी हैं। चकिता तथा मधुमती आदि के लक्षण संदिग्ध हैं, उद्‌गीत, दण्डक के कुछ भेदों तथा कुमार-ललिता आदि के उदाहरण अशुद्ध हैं तथा मौक्तिकदाम और तोटक के लक्षण उदाहरण दोनों ही अशुद्ध हैं। पर इन अशुद्धियों के बावजूद भी देव के पिंगल में ३ विशेषताएँ हैं—

१. इन्होंने सवैया के प्रचलित ८ भेदों के अतिरिक्त चार और भेद भी किये हैं।

२. घनाक्षरी में ३३ वर्णों की एक नवीन घनाक्षरी की उद्भावना की है जो नवीनता के कारण साहित्य में देव घनाक्षरी के नाम से प्रसिद्ध है।

३. सवैयों के प्रकरण में एक ही सवैया में ८ प्राचीन सवैयों के लक्षण केवल 'भगण' के आधार पर देने में भी इनकी सूत्रकला का सुंदर उदाहरण मिलता है। इस प्रकार पिंगल के क्षेत्र में इनकी देन है।

समवेत रूप से विचार करने पर देव के आचार्यत्व के संबन्ध में निम्नांकित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

१. आचार्य देव विस्तार के प्रेमी हैं, इसी कारण उन्होंने अपने निरूपण में भेद-विभेद खूब किये हैं।

२. पर इन भेदों में कोई चिंतन या गम्भीरता नहीं है। प्रायः भेद के लिये भेद हैं, अतः इनका कोई महत्व नहीं है।

३. कुछ भेद-विभेद-सम्बन्धी या अन्य विशेषताएँ, प्राचीन संस्कृत

या हिंदी के आचार्यों से ली गई है अतः कुछ नवीनता भी हो तो उसका श्रेय देव को नहीं है।

४. अलङ्कारों आदि के विवेचन में पर्याप्त स्पष्टता नहीं है। कोई विद्यार्थी केवल देव को पढ़कर उनका ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता।

५. कहीं-कहीं तो केवल भेद ही दे दिये गये हैं और लक्षण या लक्षण उदाहरण दोनों का अभाव है।

६. पिंगल के क्षेत्र में अवश्य उनकी मौलिक उद्भावनाएँ हैं जो देव-घनाक्षरी, तथा सवैया के ४ नवीन भेदों में स्पष्ट है।

इन सब के आधार पर केवल पिंगल को छोड़कर अन्य किसी क्षेत्र में देव की कोई देन नहीं है और विवेचन आदि की अस्पष्टता या कमी के कारण वे प्रायः असफल आचार्य हैं।

पर, कुछ बातें और भी कही जा सकती हैं। हिंदी के प्रायः सभी आचार्य अस्पष्ट हैं। इसके प्रधानतः दो कारण हैं। एक तो 'पद्य' में तुक आदि के बन्धन रहते हैं और दूसरे ब्रज भाषा काव्योपयोगी है न कि रीत्योपयोगी। साथ ही हिंदी के प्रायः सभी आचार्यों में स्वतंत्र और गम्भीर चिंतन का अभाव है। इस प्रकार असफल आचार्य होने की बदनामी केवल देव के ही मत्थे नहीं है। इसके अतिरिक्त कम से कम एक क्षेत्र (पिंगल) में तो देव की कुछ देन है ही। अतः यह कहना असंगत न होगा कि देव आचार्य थे और हिंदी के आचार्यों में उनका एक अच्छा स्थान है। हाँ, यह अवश्य है कि कुछ थोड़े स्थलों को छोड़ उनकी मौलिक उद्भावनाएँ प्रायः नहीं है और वे प्रायः असफल हैं। उनकी असफलता का एक प्रधान कारण यह भी है कि वे हृदय प्रधान सफल रसवादी कवि थे। कुछ भी हो, डा० श्यामसुन्दर दास के शब्दों में इतना तो कहा ही जा सकता है कि आचार्यत्व एवं पाण्डित्य की दृष्टि से वे हिंदी में केवल केशव से नीचे थे।

अध्याय ५

कवि देव

कविता में दो पक्ष होते हैं। कवि जो कहता है उसे भाव, वस्तु या विषय कहते हैं तथा जिस ढंग से कहता है उसे शैली या कला कहते हैं। इस प्रकार इस अध्याय को

अ. विषय, तथा

आ. कला

दो शीर्षकों में बाँटा जा सकता है।

अ. विषय

देव की कविता का कुछ भाग तो रस, अलङ्कार, पदार्थनिर्णय, नायक-नायिका भेद तथा गुण आदि रीति विषयों से सम्बद्ध है जिस पर पीछे 'आचार्य देव' शीर्षक के अंतर्गत विचार किया जा चुका है। शेष भाग में प्रधानता तो शृङ्गार तथा प्रेम की है, पर इनके अतिरिक्त दर्शन तथा नीति की भी कुछ बातें उनमें मिल जाती हैं। शृङ्गार और प्रेम के प्रसंग में तथा यों भी देव में चित्र बड़े सुन्दर-सुन्दर मिलते हैं जिनमें प्रधानता प्रकृति, मानव तथा तत्कालीन समाज के चित्रों की है। इस प्रकार देव की कविता के शेष भाग पर विषय की दृष्टि से निम्न उपशीर्षकों में विचार किया जा सकता है—

१. प्रकृति

२. मानव

३. तत्कालीन समाज

अब हम लोग क्रम से इन पर विचार करेंगे।

(क) शृंगार

देव प्रधानतः शृङ्गार रस के कवि हैं। शृङ्गार रस का इतना विस्तृत विवेचन रीतिकाल में किसी अन्य कवि ने नहीं किया है, अतः उनके भावपक्ष पर विचार करते समय स्वभावतः हमारा ध्यान पहले उनके शृङ्गार वर्णन की ओर जाता है। देव शृङ्गार रस को प्रधान रस मानते थे। इतना ही नहीं वे तो यह भी मानते थे कि सभी रस इसी में हैं—

भूलि कहत नवरस सुकवि सकल मूल सिंगार।
तेहि उछाह निरवेद लै वीर सांत सञ्चार।
भाव सहित सिंगार में नव रस झलक अजस्र।
ज्यों कंकन मनि कनक को ताही में नव रत्न।
निर्मल स्याम सिंगार हरि देव अकास अनन्त।
उड़ि उड़ि खग ज्यों और रस बिबस न पावत अंत।

या

यहि बिधि रस शृङ्गार में सब रस रहे समाइ।

या

नव रस मुख्य शृङ्गार जहँ उपजत बिनसत सकल रस।

संस्कृत के भी बहुत से आचार्यों ने इस रस को प्रधानता दी है। प्रथम आचार्य भरत ने तो यहाँ तक कहा है कि संसार में जो कुछ पवित्र, उत्तम, उज्वल तथा दर्शनीय है वही शृंगार है[1]। अग्निपुराण

---

[1] यत्किंचित् लोके शुचि मेध्यमुज्वलं दर्शनीयं वा तच्छृङ्गारेणोपनीयते।

में भी इसकी श्रेष्ठता स्वीकार की गई है। भोज ने तो अपने शृङ्गार प्रकाश में शृंगार को ही एक मात्र रस माना है। शृंगार सर्वश्रेष्ठ रस न्यायतः ज्ञात भी होता है। इसके लिए सबसे बड़ी बात तो यह है कि अन्य रसों का सञ्चार प्रमुखतः मनुष्य मात्र में होता है, पर इसका सभी जीवों में होता है। यदि हम यह भी कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी कि इसका सञ्चार चराचर में होता है। पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग की तो बात स्पष्ट है, पर इसके बाहर आचार्य वसु के अनुसन्धानों ने जब वनस्पतियों को भी पूर्णतः जीवों की भाँति जीवित सिद्ध कर दिया तो अवश्य ही उन पर भी शृंगार रस का राज्य होता होगा।

यदि अलग मनुष्य को भी लें तो उसकी मूल वृत्ति राग है। राग का विरोध ही द्वेष है और शेष सभी वृत्तियाँ राग और द्वेष पर ही आधारित हैं। इस प्रकार भी शृंगार का सम्बन्ध प्रमुख वृत्ति से है।

विश्व सृजन और संहार की कहानी है। सृजन का ही विरोध संहार है अतः सृजन ही प्रधान है, और इसका भी सम्बन्ध शृंगार से ही है। आचार्यों ने और भी तरह-तरह की बातें इस सम्बन्ध में कही हैं पर यहाँ अधिक दूर जाने की आवश्यकता नहीं।

देव ने शृंगार रस का स्थायीभाव रति माना है—

तिनमें रति थिति भाव तें उपजत रस शृंगार।

रति की परिभाषा इनके अनुसार है—

नेकु जु प्रियजन देखि सुनि, आन भाव चित होइ।
अति कोविद पति कविन के सुमति कहत रति सोइ॥

शृंगार के विभावों के विषय में देव लिखते हैं—

नायकादि आलम्बन होई। उपवन सुरभि उद्दीपन सोई।

इसी प्रकार अनुभाव के विषय में—

आनन नैन प्रसन्नता, चलि चितौनि मुसकानि।

या

भ्रू विलोल कटाक्ष औ भौंह मटक मुसकाय।

कहना न होगा कि ये सभी बातें शास्त्रसम्मत हैं। इस क्षेत्र में देव की नई उद्भावना, सञ्चारियों के विषय में है। आचार्यों ने ३३ सञ्चारियों में मरण, आलस्य, उग्रता और जुगुप्सा इन चार को छोड़कर शेष को शृंगार रस का पोषक माना है पर देव इन चारों को भी उसमें जोड़ लेते हैं—

कहि 'देव' देव तैंतीस हूँ संचारी तिय संचरति।

इस प्रकार वे ३३ सञ्चारियों को शृङ्गार का पोषक मानते हैं। इसके लिये उन्होंने शब्दरसायन में 'वैरागिनि किधौं अनुरागिनि सुहागिनि तू', वाला छंद लिखा है। साथ ही उस छंद की व्याख्या भी की है। व्याख्या में या उदाहरण में कोई गम्भीरता नहीं है। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने ठीक ही कहा है कि देव में किसी विषय को लेकर गम्भीर हो जाने के स्थान पर परिचय देने की प्रवृत्ति अधिक है।

शृङ्गार के दो भेद होते हैं: पहला संयोग और दूसरा वियोग। संयोग में मिलन, मिलन में बारहमासा, विहार तथा विनोद आदि आते हैं। इसके अंतर्गत रूपवर्णन भी आता है पर उस पर हम लोग आगे चलकर अलग विचार करेंगे। यहाँ शेष पर विचार किया जायगा। देव में बारहमासे का अलग वर्णन नहीं है पर विभिन्न स्थलों पर विभिन्न मास या उसके उत्सवों द्वारा इन्होंने ऋत्वनुकूल मिलन एवं विहार की भावनाओं को बड़े सुन्दर ढङ्ग से चित्रित किया है। सावन का दिन है। राधिका कृष्ण के साथ झूले पर बैठी हैं। धीरे-धीरे पानी बरस रहा है। साड़ी भीगकर चुचुवाने लगी है। झूले के ज़ोर से झूलने पर भयभीत होकर अपनी गलती से डोरी छोड़ कर राधिका कृष्ण से लिपट जाती हैं। चित्र बड़ा ही सुन्दर है—

झूलनि हारी अनोखी नई उनई रहतीं इतही रँगराती।
मेह में ल्यावें सु तैसियै सङ्ग की रङ्ग भरी चुनरी चुचुवाती।
झूला चढ़े हरि साथ हहा करि देव झुलावति हीते डराती।
भोरे हिंडोरे की डोरिन छाँड़ि खरे ससवाइ गरे लपटाती॥

होली का दिन है। शुता नायिका है। चंदन-चूर कपूर लगाकर लोगों से मिल रही है। उसका प्रेमी भी अकस्मात् सामने आ जाता है और संकोच खाते हुये भी मिलना ही पड़ता है—

लोग लुगाइन होरी लगाई मिला मिली चारु न भेटत ही बन्यो।
देव जू चंदन-चूर-कपूर लिलारन लै लै लपेटत ही बन्यो।
ये इहि औसर आए इहाँ समुहाइ हियो न समेटत ही बन्यो।
कीनी अनाकनि औ, मुख मोरि पैजोरि भुजा भट् भेंटत ही बन्यो॥

कहना न होगा कि उपर्युक्त उदाहरण कवि की कल्पना शक्ति, उसकी सूझ-बूझ तथा मिलन सम्बन्धी चित्रकारिता को स्पष्टतः स्पष्ट कर रहे हैं। रीतिकालीन कवियों ने प्रायः बारहमासा या षट्-ऋतु वर्णन चित्रण किया है, देव ने इससे एक कदम आगे बढ़कर २४ घंटे के ८ यामों और ८ यामों के ६४ घंटा घड़ियों के मिलन सम्बन्धी क्रिया कलापों का उल्लेख किया है। अष्टयाम इसी का ग्रन्थ ही है। कवि उसमें स्वयं कहता है—

दंपतीनि के देव कवि बरनत विविध विलास।
आठ पहर चौंसठि घरी पूरन प्रेम प्रकास॥

अष्टयाम के ये ६४ घड़ियों के चित्र बड़े अनुभवपूर्ण तथा विलास-वासना से ओतप्रोत हैं। यथार्थतः यह तत्कालीन राजा-नवाबों के कामुक जीवन के चित्र हैं। अष्टयाम के कुछ चित्र देखने योग्य हैं :

दूसरे पहर की सातवीं घड़ी का चित्र है। पहले कवि चित्र का परिचय देता है :

घरी सातईं दूसरे पहर सुवास सकाम।
कुञ्ज भवन पिय कौं मिलति पहिरि फूल की दाम॥

इसका चित्र इस प्रकार है—

कुञ्ज गली हैं अली पठई बन गूढ़थली हैं लै आई सो नाहैं।
देव जु दोऊ मिले जबहीं रस मेह सनेह नदी अवगाहैं।

फूलन के गहने लै दुहून के अन्तर में पहिरावन चाहैं।
लालन के गलमेलि सी राखति बाल सो चंपक बेलि सी बाहैं॥

तीसरे प्रहर की दूसरी घरी का एक वर्णन है। चित्र का परिचय कवि देता है—

पहर तीसरे दूसरी घरी रैनि की होति।
कथत कथा दम्पति तहाँ कछु जागत कछु सोति॥

चित्र इस प्रकार है—
प्रेम के प्रसङ्ग, भीजे रस रंग, रंग देव अंगनि अनंग की तरङ्ग उमगति है।
बरसत सुरस परस्पर बरसत हरषत किए हाँसी जिय में जगति है।
स्वेदजल झलकत, पल पल ललकत, पुलकत तन औ बिपुल नई गति है।
हरे-हरे हेरि-हेरि हँसि-हँसि फेरि कहानी के कहत कहानी की लगति है॥

संयोग शृंगार में मान का वर्णन भी बहुत प्रचलित है। देव भी इसे भूले नहीं हैं। रात में नायिका और नायक सोए हैं। हँसी में नायिका रूठ जाती है—

रूप अनूप है एक तुही तिय तोती न और मही महियाँ।
कहुँ होय हमारे कहा कहिये तब तो हमसो मघवान हियाँ।
परजंक परे दोउ अंक भरे सुधरे सिर दोऊ दुहु बाँहियाँ।
सुनियाँ भई भावती के मुख की छिन में मुख बादर की छहियां।

एक क्षण में मुख मलिन हो जाता है और नायिका मान कर लेती है—
परिहास कियो हरिदेव सो बाम को बाम सो नैन नचै नट ज्यौं।
करि तीखे कटाक्ष कृपान भए सुमनो रन रोस भिरो भट ज्यौं।
लचि लाइ रही खट पाटी करौंट लै मानौ महोदधि को तट ज्यौं।
कटु बोल सुनो पटुता मुख की पट दै पलटी पलटी पट ज्यौं॥
अंत में नायक मनुहार करता है—
हँसि पीछे ते देव सुजान भुजान सो लीन्हों लपेटि तिया भरि कै।
सतरानी बहू रति रानी सी लै अधरा मृदु ऐंचि पियो भरि कै।

तब रूसि सकी न भरी सिसकी सुर दीरघ सों अँसुवा भरि कै।
अकुलाइ बियोग बिदा करि बाल लियो भरि लाल हिया भरि कै॥

संयोग शृंगार में हास-परिहास या विनोद का भी प्रधान स्थान है। देव ने इस क्षेत्र में भी सफलता के साथ प्रवेश किया है। देव के विनोद प्रधानतः तीन प्रकार के हैं। कहीं-कहीं तो नायक और नायिका में विनोद पूर्ण बातें होती हैं। ऐसी बातों का अन्त या तो केवल विनोद में या नायिका के खीझने में होता है। कुछ विनोद ऐसे हैं जिनमें नायिका की दशा देखकर नायक कुछ चुभती-सी कह देता है। तीसरे स्थल ऐसे हैं जहाँ देव स्वयं किसी विशिष्ट कार्य करते समय नायक या नायिका का चित्र खींचते हैं।

पहले प्रकार का उदाहरण लीजिए। कृष्ण ने दही छीन लिया है और गोपिका से कह रहे हैं कि अपने उज्वल जोबन (किसी अंग्रेज़ी कवि ने Creamy breast लिखा है।) का मोल कहो तो दही वापस करूँगा। नायिका कहती है कि बहुत बनो नहीं, तुम्हारी बातों में मैं आने की नहीं! मुझे तुम बातों से मोल नहीं ले सकते। इस पर नायक कहता है—मोल की क्या बात? तुम्हें खींचकर जब अधर-रस का पान करूँगा तो तुम बिना मोल के ही बिक जाओगी। इस पर नायिका रूठते हुए कहती है—कैसे कही कृष्ण! ज़रा फिर तो कहो! काका की कसम अभी मैं भी कुछ कह दूँगी :

गूजरी! उजरे जोबन को कछु मोल कहौ दधि को तब दैहौं।
देव इतो इतराहु नहीं, ई नहीं मृदु बोलन मोल बिकैहौं।'
मोल कहा, अनमोल बिकाहुगी ऐंचि जबै अधरा-रसु लैहौं।
कैसी कही, फिरि तौ कहौ कान्ह! अबै कछु हौं हूँ कका की सौं कैहौं।

कितना स्वाभाविक, मनोवैज्ञानिक, तथा मुस्कराता हुआ चित्र है!

दूसरे प्रकार के विनोद का चित्र देखिए। खिड़की पर उमंग में नायिका नायक को देखकर अँगड़ाई लेती है। नायक कहता है—अरे भाई! इस तरह कर रही हो, उड़ तो नहीं जाओगी :

आइ खुभी खिरकी में खरी खिन ही खिन खीन गम्भीन लखाहीं।
चाह भरी उचकै चितचौंकि चितै चतुराई उतै चित चाहीं।
बातन ही बहरावति मोहिं विमोहति गातन की परछाहीं।
ओहीं किए उर ऐंड़ती हौ भुज एंहि कहूँ उड़ि जैहौ तौ नाहीं।

तीसरे प्रकार का विनोद लीजिए। गोपिका कृष्ण का स्वरूप धारण कर रही है। सब स्वरूप तो ठीक हो गया है पर उन्नत उरोज नहीं छिप रहे हैं। अन्त में उन्हें छिपाने के लिए कमल की माला धारण कर लेती है—

रच्यो कच मौर सुमोर-पखा धरि काक-पखा मुख राखि अराल।
धरी मुरली अधराधर लै मुरली मुरलीन है देव रसाल।
पितम्बर काछनी पीत पटी धरि बालम-वेष बनावति बाल।
उरोजन खोज निवारन को उर पैन्ही सरोजमई मृदु माल।

संयोग शृङ्गार में रति, प्रगाढ़ालिंगन तथा सुरतांत आदि का वर्णन भी रहता है। ये वर्णन प्रायः अशिष्ट ही कहे जायँगे। पर जब कृष्णावलम्बी[1] संप्रदायों में इसे धार्मिक महत्ता दे दी गई तो फिर रीतिकालीन कवियों को उन्मुक्त होकर अपने हृदय के कल्मष निकालने का अवसर-सा मिल गया। देव शृङ्गार रस के कवि थे पर जैसा कि आगे हम लोग देखेंगे वे कुरुचिपूर्ण विचारों के न थे। उन्होंने स्वयं तो शयन, मान,

[1] राम सम्प्रदाय में भी रीतिकाल में इस प्रकार की कुछ कविताएँ लिखी गईं। शुक्ल जी ने इस प्रकार की कुछ कविताएँ अपने इतिहास में दी हैं। एक देखी जा सकती है—

हमारे पिय ठाढ़े सरजू तीर।
छोड़ि लाज मैं जाय मिली जहँ खड़े लखन के वीर।
मृदु मुसकाय पकरि कर मेरो खैंचि लियो तब चीर।
झाऊ वृक्ष की झाड़ी भीतर करन लगे रति धीर॥

रति या रत्यांत आदि के वर्णन दिए हैं पर सुजान विनोद में इनके वर्णन को अनुचित बतलाया है—

मुग्धादिक वय भेद अरु मान सुरत सुरतंत।
बरने मत साहित्य के उत्तम कहैं न संत।

देव के कुछ वर्णन नमूने के तौर पर लिए जा सकते हैं। हम देखेंगे कि इन चित्रों में रीतिकालीन अन्य कवियों की भाँति अश्लीलता सीमा पार नहीं कर गई है :

प्रगाढ़ालिंगन

फूलन की-सी माल बाल लाल सों लपटि लागी,
तन मन और पट कपट कुपिलिगे।
देखै मुख जियैं दोऊ-दोऊ के अधर पियैं,
हियो हियो हाथन सौं यों हित कै हिलिगे।
नैन लागे, बैन लागे, देव चित चैन लागे,
दुहुँनि के खेल खरे खेलहिं में खिलिगे।
भरि कैं मरम रस ढरिकै समाने जुग,
जाने ना परत जल बूँदहिं लों मिलिगे।

रति के पूर्व

तोरी तनी अपने कर कंचुकी डारी उतारि उतै पियही है।
ऐपन पीड़सी भीड़त जोतिय तो लटसी लपटै पियही है।
ज्यों-ज्यों पियै पिय ओठनि कौरस देव त्यों बाढ़ति प्यास तही है।
चंपक पत्र से गातन में न नखक्षत देव अघात नहीं है॥

रत्यांत

हौंस गँवाइ करी सुख केलि तिया तबही सब अङ्ग सुधारे।
तानि लियो पट घूँघट में झलकैं दृग लाल भरे झप कारे।
देव जू देखि लगे ललचान लला के कपोल कँपै पुलकारे।
मार मनो मर सार के रोम कैं एक ही बार हजार कमारे॥

इन सबके अतिरिक्त नायिकाओं के हावों, लीला, विलास तथा विच्छित्ति आदि का भी संयोग के प्रसंग में देव ने वर्णन किया है।

अब विप्रलम्भ शृंगार लीजिए। वियोग में वियोग की कृशता तथा दाह, विभिन्न ऋतुओं में या पर्वों पर वियोगी की दशा, वियोग के चार अङ्गों तथा विरह की दस दशाओं का वर्णन रहता है। वियोग कृशता का रीतिकाल में खूब चित्रण मिलता है। केशव के राम की अंगूठी कङ्गन हो जाती है।[1] बिहारी की कृश नायिका तो हवा लगने से छः सात हाथ आगे पीछे जाने लगती है। देव की नायिका की चूड़ियाँ तो 'काग' उड़ाते समय निकल कर कौवे के गले में पड़ जाती हैं—

लाल बिना विरहाकुल बाल वियोग की ज्वाल भई झुरि झूरी।
पौन औ पानी सों प्रेम कहानी सों पान ज्यों प्रानन राखत हूरी।
'देव जू' आजु मिलाप की औधि सो बीतत देख विसेख बिसूरी।
हाथ उठायो उड़ायबे को उड़ि काग गरे गिरी चारिक चूरी॥

इसे कुछ विद्वानों ने फारसी का प्रभाव माना है, किंतु सत्य यह है कि अपनी भारतीय परम्परा में भी इस प्रकार विरहकृशता वर्णित है। कालिदास ने मेघदूत में विरही यक्ष की कृशता का बड़ा सुन्दर चित्र दिया है—

तस्मिन्नद्रौ कतिचिदबलाविप्रयुक्तः सकामी।
नीत्वा मासान् कनकवलयभ्रंशरिक्त प्रकोष्ठः॥[2]

---

[1] तुम पूँछत कहि मुद्रिके मौन होत यहि नाम।
कंगन की पदवी दई तुम बिन या कहँ राम।

[2] अपनी पत्नी बिना जो एक क्षण नहीं रह पाता था वह यक्ष सूखकर काँटा हो गया। उसके हाथ के सोने के कंगन भी ढीले होकर निकल गये और यों ही रोते कलपते उसने कुछ महीने तो उस पहाड़ी पर जैसे तैसे काट दिए।

अतः इस प्रकार के वर्णनों को विदेशी प्रभाव नहीं माना जा सकता है।

कृशता की भाँति ही विरहावस्था में शरीर जलने भी लगता है। इस विरह दाह का भी वर्णन कवियों ने खूब किया है। बिहारी की नायिका के ऊपर गुलाब जल गिराया जाता है तो वह शरीर तक पहुँचने के पूर्व ही सूख जाता है—

बीचहि सूखि गुलाबगो छींटो छुयो न गात।

देव की नायिका भी जल रही है—

कल न परति कहूँ ललन चलन कह्यो।
बिरह-दवा सों देह दहकै दहकि दहकि॥

विभिन्न ऋतुओं और पर्वों पर वियोगिनी की दशा और भी बुरी हो जाती है। उसे उन्हीं ऋतुओं की संयोग की बातें याद पड़ती हैं और उस दशा की उलटी दशा देख उसका कष्ट सीमा पार कर जाता है। कृशता तथा विरहताप के वर्णन में स्वाभाविकता से अधिक उहात्मकता रहती है, इसी कारण देव ने उधर कम ध्यान दिया है, पर ऋतुओं और पर्वों को लेकर उन्होंने विरहिणी के बड़े सुन्दर और स्वाभाविक चित्र खींचे हैं। वसन्त है। शीतल समीर बह रहा है। फाग खेलना भी लोगों ने आरम्भ कर दिया है, पर देव की नायिका के लिये सब कुछ ज़हर हो रहा है—

कंत बिन बासर वसंत लागे अंतक से,
तीर ऐसे त्रिविध समीर लागे लहकन।
सान धरे सार से, चंदन घनसार लागे,
खेद लागे खरे मृग मेद लागे महकन।
फाँसी से फुलेल लागे, गाँसी से गुलाब अरु,
गाज अरगजा लागे चोवा लागे चहकन।
अङ्ग-अङ्ग आगि ऐसे केसरि के नीर लागे,
चीर लागे जरन अबीर लागे दहकन॥

विरह की एक यह भी परिस्थिति आती है जिसमें संसार की सभी अच्छी चीजें बुरी लगने लगती हैं। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य भी है। पैथेटिक फैलेसी का सम्बन्ध इसी से है। देव की विरहिणी नायिका को भी यह अनुभूति होती है। प्रकृति के सारे सौन्दर्य उसे जैसे काटने को दौड़ते हैं—

जागी न जोन्हाई लागी आगि है मनोभव की,
लोक तीनों हियो हेरि हेरि हरकत है
वारि पर परे जलजात जरि बरि-बरि,
वारीधि ते वाड़व-अनल परसत है।
धरनि ते लाइ झरि छूटी नभ ,लाई, कहै,
देव जाहि जोवत जगत हू जरत है।
तारे चिनगारे-ऐसे चमकत चहूँ ओर,
बैरी विधु-मंडल भभूको सो बरत है।

वियोग में साहित्य शास्त्रियों ने १० अवस्थाएँ मानी हैं। ये दशाएँ हैं चिंता, स्मरण, गुणकथन, उद्वेग, उन्माद, व्याधि, जड़ता, प्रलाप, मूर्च्छा तथा अभिलाषा। कुछ ने एक 'मरण' दशा भी मानी है और यह संख्या ११ कर दी है। देव ने सभी के चित्र खींचे हैं। सबको यहाँ देखना तो असम्भव है पर कुछ बानगी के लिये जा सकते हैं।

उन्मादावस्था में राधिका प्रलाप कर रही हैं। सखी समझाती है—

ना यह नंद को मंदिर है, वृषभान को भौन; कहा जकती हौ।
हौं ही यहाँ तुमही कहि 'देवजू'; काहि धौं घूँघट कै तकती हौ।
भेटती मोहि भटू केहि कारन ? कौन कीधौं छवि सों छकती हौ।
वैसी भई सो कहा किन कैसे हूँ ? कान्ह कहाँ है ? कहा बकती हौ।

इसी प्रकार विरहदग्धा नायिका उद्वेगावस्था में है। उसे कुछ भी नहीं भाता। देव लिखते हैं—

भेष भए विष, भावै न भूषन भूख न भोजन की कछु इछी,
देवजू देखे करै बधु सो, मधु, दूधु, सुधा, दधि, माखन छीछी।

चंदन तौ चितयो नहिं जात, चुभी चित माँहिं चितौनि तिरीछी,
फूल ज्यों सूल, सिला-सम सेज, बिछौननि बीच बिछी मनौ बीछी।

देव के इन वर्णनों में रीतिकालीन अन्य कवियों की भाँति केवल उहात्मकता नहीं है।

विरह के चार अङ्ग हैं—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण। इनमें पूर्वराग और मान का विषय विवादास्पद है। पूर्वराग या पूर्वानुराग मिलन के पहले की अवस्था है। प्रश्न यह उठता है कि मिलन के पूर्व क्या केवल सुनकर प्रेम का विकास सम्भव है? ऐसा लगता नहीं। इसी प्रकार मान तो संयोग की चटनी है। बिना उसके संयोग भी 'बोर' या अप्रिय हो जायगा। प्रस्तुत पुस्तक में इसी कारण मान का वर्णन संयोग में किया गया है। कुछ भी हो, आचार्य प्रायः इस बात के पक्ष में हैं[१] कि मान विरह का एक अङ्ग है क्योंकि इसमें मानसिक मिलन नहीं रहता। इसी प्रकार कुछ लोग पूर्व-राग को भी विरह का एक अङ्ग मानते हैं। मान का संक्षिप्त वर्णन पीछे संयोग में किया गया है। पूर्वराग का वर्णन भी देव ने किया है। इस सम्बन्ध में सर्वश्रेष्ठ छंद—

साँसन ही सौं समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि;
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तनु की तनुता करि।
जीव रह्यो मिलिबेई कि आस, कि आसहू पास अकास रह्यो भरि,
जा दिन ते मुख फेरे; हरे हँसि हेरि हियो जु लियो हरिजू हरि।

१। श्री कृष्णबिहारी मिश्र अपनी पुस्तक 'देव और बिहारी' में इसका स्पष्टीकरण करते हैं—

देव जी कहते हैं—मुख घुमाकर ईषत् हास्य-पूर्वक जिस दिन से हरि ने हृदय हर लिया है उस दिन से सम्मिलन-मात्र की आशा से जीवन बचा है (नहीं तो शरीर का ह्रास तो सब ही हुआ है), उसमें भी पाँचों तत्त्वों का विनाश हो चुका है; अविरल अश्रु-धारा-प्रवाह से जल

भी नहीं रहा है; तेज भी अपने गुण समेत विदा हो चुका है, शरीर की कृशता और हलकापन देखकर जान पड़ता है कि पृथ्वी का अंश भी निकल गया, और शून्य आकाश चारों ओर भर रहा है। अर्थात् नायिका विरह-वश नितांत कृशांगी हो गई है। अश्रु-प्रवाह और दीर्घोच्छ्वास अपनी चरम सीमा पर पहुँच गये हैं। अब उनका भी अभाव है। न नायिका साँसें लेती है और न नेत्रों से आँसू ही बहते हैं। उसको अपने चारों ओर शून्य आकाश दिखलाई पड़ रहा है। यह सब होने पर भी प्राण-पखेरु केवल इसी आशा में अभी नहीं उड़े हैं कि सम्भव है प्रियतम से प्रेम-मिलन हो जाय, नहीं तो निस्तेज हो चुकने पर भी जीवन शेष कैसे रहता ? इस छंद में 'छिति जल पावक गगन समीरा' से बना शरीर समाप्त होता दिखलाया गया है।

तीसरे अङ्ग, प्रवास की परिभाषा रसवाटिका के अनुसार है—'नायक नायिका का एक बेर समागम हो, अनंतर जो उनका बिछोह होता है विप्रलम्भ शृङ्गार कहते हैं। शाप और प्रवास इसी के अंतर्गत माने जाते हैं।' सच पूछा जाय तो प्रवास ही यथार्थतः वियोग है। इस प्रवास विरह का चित्र देव ने बड़ा सुन्दर खींचा है। नायिका विरह की आग में बेतरह जल रही है—

बालम-विरह जिन जान्यो न जनम-भरि,
बरि-बरि उठै ज्यों-ज्यों बरसै बरफराति।
बीजन डुलावत सखी-जन त्यों सीत हूँ मैं,
सति के सराप तन-तापन तरफराति।
'देव' कहै साँसन ही अँसुवा सुखात, मुख,
निकसै न बात, ऐसी सिसकी सरफराति।
लौटि-लौटि परत करौट खाट-पाटी लै-लै,
सूखे जल सफरी ज्यों सेज पर फरफराति।

चौथा विरह, करुण या करुणाविरह है। भाव-विलास में इसका वर्णन कई प्रकार से है। एक छंद लीजिये—

कालिय काल, महाविष-ज्वाल जहाँ जल-ज्वाला जरै रजनी-दिनु,
उरध के अधके उबरै नहिं, जाकी, बयारि बरै तरु ज्यों तिनु।
ता फनि की फन-फाँनिस मैं फँदि जाय, फँस्यो, उकस्यो न अजौं छिनु,
हा! व्रजनाथ सनाथ करौ, हम होती हैं नाथ, अनाथ तुम्हैं बिनु।

इसमें सचमुच करुणा साकार है। पं० कृष्णबिहारी मिश्र द्वारा इस छंद की प्रशंसा इस प्रकार है 'कृष्ण को विषधर काली के दह में कूदा सुनकर गोपियों का विलाप कैसा करुण है! व्रजनाथ से पुनः सम्मिलन की आशा रखकर उनसे सनाथ करने की प्रार्थना कितनी हृदय द्राविनी है! काली दह का कैसा रोमांचकारी वर्णन है! अनुप्रास और माधुर्य कैसे खिल उठे हैं! सौहार्द्र भक्ति का विमल आदर्श कितना मनोमोहक है!

यह है देव द्वारा वर्णित श्रृंगार का संक्षिप्त चित्र। देव के श्रृङ्गार में अश्लीलता और उहात्मकता की वह सीमा नहीं है जो रीतिकालीन अन्य कवियों में पाई जाती हैं। इसका एक बहुत बड़ा कारण यह है कि रीति कालीन कवियों ने प्रायः श्रृंगार, प्रेम और वासना या कामुकता को एक ही माना है तथा परकीया प्रेम को भी प्रेम माना है पर देव का विचार इससे भिन्न है। वे श्रृङ्गार रस को रसराज मानते हैं पर बिना प्रेम के उसे नीरस या निस्सार मानते हैं—

ऐसे ही बिनु प्रेम रस नीरस रस सिंगार।

इस प्रकार उनके श्रृंगार में रीतिकालीन अन्य कवियों की भाँति वासना की उच्छृङ्खलता नहीं अपितु प्रेम की गम्भीरता है। उनके कुछ और उद्धरण इस बात को और स्पष्ट कर देते हैं—

१. आठों अङ्ग स्वकियाहि के परकिय बिन कुल नेम।
२. विषय बिकाने जनन की प्रेमी छियत न छांहि।

३. पेम हीन त्रिय वेश्या है सिंगारभास।
४. तबहीं लौं शृङ्गार रसु जबलग दंपति प्रेम

इन सबका आशय यह कि अन्य कवियों की भाँति परकीया के शृङ्गार को इन्होंने शृंगार नहीं माना है। ये शुद्ध शृङ्गार केवल दंपति में या स्वकीया में मानते हैं, साथ ही प्रेम और विषय को बिल्कुल अलग मानते हैं। ये सब एक स्तर के विचार हैं। कहना न होगा कि विषयविहीन पवित्र प्रेम से अनुप्राणित स्वकीया शृङ्गार ही देव का शृंगार है।

(ख) प्रेम

रीतिकाल में शृङ्गार और वासना आदि को तो सभी कवियों ने चित्रित किया है पर विशुद्ध प्रेम को चित्रित करने वाले एक देव ही हैं। और लोगों से यदि कुछ ने प्रेम की ओर दृष्टि दौड़ाई भी है तो वह देव का विशुद्ध प्रेम न होकर विषय का ही प्रायः पर्याय-सा है। यों तो प्रेम के विषय में कई पुस्तकों में देव के विचार मिलते हैं पर प्रमुखतः 'प्रेमचन्द्रिका' में इसका वर्णन है।

देव ने प्रेम को परिभाषा में बाँधा है—

जाके मद-मात्यो सो उमात्यो ना कहूँ है, कोई
बूड़्यो उछल्यो ना तर्यो सोभा-सिंधु-सामु है।
पीवत ही जाहि कोई मर्यो सो अमर भयो
बौरान्यौ जगत जान्यौ मान्यौ सुख-धामु है।
चख के चखक भरि चाखत ही जाहि फिरि
चाख्यो न पियूष कछु ऐसो अभिरामु है।
दम्पति सरूप ब्रज औतर्यो अनूप सोई
देव कियो देखि प्रेम रस प्रेम नामु है।

प्रेम का उन्होंने एक और भी लक्षण बतलाया है—

सुख दुख मैं हैं एक सम तन-मन-बचननि-प्रीति।
सहज बढ़ै हित चित नयो जहाँ सुप्रेम-प्रतीति।

हम देखते हैं कि प्रेम को देव अमृत से भी अधिक आकर्षक तथा दुख-सुख में एक-सा रहनेवाला मानते हैं। सचमुच प्रेम की सबसे बड़ी कसौटी यही है कि यदि वह यथार्थ है तो न सुख में अधिक होगा और न दुख में कम। देव की रचनाओं को यदि ध्यान से देखें तो उन्होंने प्रेम को एक बहुत ऊँचा और निश्चित स्थान देने का प्रयास किया है। उनका कहना है—

ऊँच नीच तन कर्म बस चल्यौ जात संसार।
रहत भव्य भगवंत जसु नव्य काव्य सुख-सार।
रहत न घर वर वाम धन तरुवर सरवर कूप।
जस सरीर जग में अमर भव्य काव्य रस रूप।

अर्थात् काव्य को वे इस अस्थायी संसार में स्थायी मानते हैं, इस प्रकार संसार में अमर या संसार का सार काव्य है। साथ ही काव्य का आत्मा वे रस मानते हैं और—

रसनि सार सिंगार रस

अर्थात् रसों का सार शृङ्गार मानते हैं। आगे इस शृङ्गार का सार प्रेम माना है और कहा है, प्रेम बिना शृङ्गार के भी सभी रसों का सार है पर प्रेम के बिना शृंगार नीरस है—

ऐसे ही बिन प्रेम रस नीरस रस सिंगार।
प्रेम बिना सिंगार हू सकल रसायन सार।

इस प्रकार संसार का सार काव्य, काव्य का सार रस, रस का सार शृंगार और शृंगार का सार प्रेम मानते हैं। दूसरे शब्दों में देव के अनुसार संसार का सार प्रेम है।

देव ने प्रेम के भेद भी किए हैं—

सानुराग सौहार्द्र अरु भक्ति और वात्सल्य।
प्रेम पाँच विधि कहत अरु कार्पण्य वैकल्य।

अर्थात् प्रेम के सानुराग, सौहार्द्र, भक्ति, वात्सल्य और कार्पण्य ये पाँच

भेद होते हैं। इन पाँचों की परिभाषाएँ तथा उदाहरण भी दिए गए हैं—

सानुराग सिंगार गति सुकिया परकीयानि।

अर्थात् सानुराग शृङ्गार में होता है और स्वकीया परकीया आदि में दिखाई पड़ता है। नायक-नायिकाओं के प्रेम का विचार करते हुए देव ने यह भी कहा है कि मुग्धा नायिका का प्रेम सबसे श्रेष्ठ होता है। उसमें सबसे बड़ी बात यह है कि उसकी तन्मयता दिन प्रतिदिन बढ़ती जाती है :

प्रथम संग नव नेह पति, मुग्ध वधूनि प्रसिद्ध।

....

गति अनन्य मुगधानि में तनमयता नित होति।
अंधकार जरि जात उर प्रेम प्रदीप की जोति।

मुग्धा नायिका और नायक के प्रेम की तन्मयता उदाहृत करते हुए देव लिखते हैं—

रीझि-रीझि रहसि-रहसि हँसि-हँसि उठैं
साँसै भरि आँसू भरि कहत दई-दई।
चौंकि-चौंकि चकि-चकि उचकि-उचकि देव,
जकि जकि बकि-बकि परत दई-दई।
दुहुन को रूप गुन दोऊ बरनत फिरैं,
घरन थिरात रीति नेह की नई-नई।
मोहि-मोहि मोहन को मन भयो राधामय
राधा मन मोहि-मोहि मोहन मई-मई।

प्रस्तुत पद सचमुच मोहन और राधा की तन्मयता से ओतप्रोत है! मोहन का मन राधामय और राधा का मोहनमय कहने में कितनी पूर्ण अभिव्यंजना है!

मध्या और प्रौढ़ा नायिकाओं के प्रेम में इतनी तन्मयता नहीं रहती,

वह सुख सम्पत्ति से बाधित रहता है, तथा रोष और दोष के कारण उसको आनन्द नहीं मिलता :

मध्य प्रौढ़हु प्रेम पति सुख सम्पति सों विद्ध ।
प्रेम कलह मध्या कलुष प्रौढ़ा मानस गर्व ।
रोष-दोष सों मिलत नहिं प्रेम पोष सुख पर्व ।

यह तो कवि की ओर से किया गया मुग्धा की तन्मयता का चित्रण है। स्वयं नायिका के मुँह से भी हम उसकी दशा सुन सकते हैं। नायिका (राधा) अपनी सखी से कहती है -

देव न देखत हौं ,दुति दूसरी; देखे हैं जा दिन ते ब्रजभूप मैं।
पूरी रही री वही धुनि कानन, आनन-आनन ओप अनूप मैं।
ए अँखियाँ सखियाँ न हमारी ए जाय मिली जल बूँद ज्यों कूप मैं।
कोटि उपाय न पाइए फेरि समाय गई रँग राग के रूप मैं।

'हे सखी, जिस दिन मैंने पहले-पहल उन्हें देखा तब से मुझे कोई दूसरा रूप दीख ही नहीं पड़ता। उन्हीं के शब्द सदा कानों में गूँजते रहते हैं और उनके अनुपम मुख की छटा के सामने अन्य कुछ भी नहीं दीख पड़ता। ये मेरी दोनों आँखें अब अपनी नहीं रह गई हैं और ये उनके सौंदर्य में इस प्रकार लीन हो गई हैं जैसे जल की बूंद कुएँ में लीन हो जाती है। ये अब उस मनमोहन के रूप में इस प्रकार घुल-मिल गई हैं कि इनका फिर से वापस लाना असम्भव हो गया है।'

देव ने सानुराग प्रेम का वर्णन प्रेम के अन्य भेदों की अपेक्षा अधिक किया है, क्योंकि इसमें सरसता की गुंजाइश अधिक है। सानुराग प्रेम में विषय को भी स्थान है। कुछ लोग तो इसे विषय तक ही सीमित समझते हैं या सानुराग प्रेम को विषय से ही उद्भूत मानते है, पर देव के अनुसार विषय-प्रेम विष है। विषयी विषय में ही व्याकुल रहते है और वे अमृत (प्रेम) छोड़कर विष पर ही ध्यान लगाए रहते हैं—

विषयी जन व्याकुल विषय देखें विधु न पियूष ।

सानुराग प्रेम के लिए देव केवल स्वकीया पतिव्रता स्त्री को ही अधिक उपयुक्त मानते हैं, परकीया और सामान्या को नहीं । नायिका-वर्णन पर विचार करते समय यह बात देखी जा चुकी है ।

सौहार्द्र प्रेम की सीमा सानुराग की अपेक्षा बड़ी है । अपने प्रीति-पात्र, परिजन, स्वजन या सम्बन्धियों के साथ के प्रेम-व्यवहार को सौहार्द्र कहते हैं । देव लिखते हैं—

प्रीति पात्र परिजन सुजन सौहारद पहिचानि ।

सौहार्द्र का उदाहरण देव ने सुदामा तथा गोपियों के प्रेम से दिया है । वात्सल्य प्रेम अपने छोटों के प्रति होता है । प्रेमचन्द्रिका में देव लिखते हैं—

लघुनि प्रीति वात्सल्य

इसका उदाहरण यशोदा और कृष्ण के प्रेम में मिलता है । 'कंस के बुलाने पर गोप मथुरा को जा रहे हैं । कदाचित् कृष्णचंद्र भी बुलाए गये हैं, परन्तु माता यशोदा अपने प्रिय पुत्र को वहाँ किसी प्रकार जाने देना पसन्द नहीं कर रही हैं । वे कहती हैं—ये तो हमारी ब्रज की भिक्षा हैं । इन्हें वहाँ कौन पहचानता है ? यह राजसभा के रहन-सहन को क्या जानें ? इन्हें मैं वहाँ नहीं भेजूँगी ।' स्वयं देव के शब्दों में—

बारे बड़े उमड़े सब जैवे को, हौं न तुम्हैं पठवौं, बलिहारी;
मेरे तो जीवन 'देव' यही धनु या ब्रज पाई मैं भीख तिहारी ।
जानै न रीति अथाइन की; नित गाइन मैं बन-भूमि निहारी;
याहि कोऊ पहिचानैं कहाँ ? कछु जानै कहाँ मेरो कुंजबिहारी ?

कितना स्वाभाविक, सरस वर्णन है ! 'जिस कुंजबिहारी का पशुओं का साथ रहता है, जिसकी विहारस्थली वन-भूमि है, जिसको राज-समाज में कोई नहीं पहचानता, जो 'अथाइन' की रीति नहीं जानता, वह कुछ भी तो नहीं बतला सकता । राजसभा में उसके जाने

की आवश्यकता ही क्या ! अनिष्ट-भय से माता पुत्र को जाने से कैसे स्वाभाविक ढंग से रोकती है !'

भक्ति प्रेम की परिभाषा है—

भक्ति भाव भक्तनि बिखै

अर्थात् भक्ति प्रेम भक्तों की चीज़ है। इसके देव ने भेद-विभेद तो नहीं किए हैं पर उनके उदाहरणों में भक्ति प्रेम के भी कम से कम दो रूप तो खोजे ही जा सकते हैं। एक को मधुर भक्ति तथा दूसरे को भक्ति कहना अनुचित न होगा। मधुर भक्ति गोपिकाओं की कृष्ण के प्रति है। एक गोपी कृष्ण के पास उद्धव द्वारा सन्देश भेजती है—

रावरो रूप रह्यो भरि नैननि, बैननि के रससों श्रुति सानो।
गात मैं देखत गात तुम्हारेई, बात तुम्हारे ये बात बखानो॥
ऊधो हहा हरिसों कहियो, तुम हौन इहाँ यह हौं नहि मानो।
या तन ते बिछुरे तो कहा, मनते अनते जु बसौं तब जानौं॥

इसमें सौहार्द्र और कार्पण्य का भी अंश है।

दूसरे रूप के उदाहरण देव में बहुत अधिक नहीं हैं। रसिकता की कमी शायद देव को इस ओर खींच न सकी। एक उदाहरण इसके स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये पर्याप्त होगा—

धाए फिरौ ब्रज मैं बधाए नित नन्द जू के,
गोपिन सधाए नचौ गोपन की भीर मैं।
'देव' मति मूढ़े तुम्हैं ढूढ़ैं कहाँ पावै चढ़े,
पारथ के रथ पैठे जमुना के नीर मैं,
आँकुस ह्वै दौरि हरनाकुस को फारयौ उर,
साथी न पुकारयो हते हाँथी हिय तीर मैं।
बिदुर की भाजी, बेर भिलनी के खाय, विप्र,
चाउर चबाय दुरे द्रौपदी के चीर मैं॥

इसमें भगवान् विष्णु के प्रधान अवतारों तथा उनकी प्रधान लीलाओं का उल्लेख है। रीतिकाल के शृंगारी कवियों का विशेष संबंध

कृष्ण से रहा है। कम ऐसे कवि हैं जिन्होंने देव की भाँति अन्य अन-नातों की ओर भी कुछ ध्यान दिया हो।

कार्पण्य प्रेम शोक एवं वेदना से अभिभूत लोगों में पाया जाता है—

कार्पण्य निजजन कृपण भाति शोक सागल्य।

सुदामा का प्रेम इसी प्रकार का है

कहै पतनी 'पति सों देखि गृह दंपति को,

हरे दिन सो पति विपति गह को मेरी।

देव के प्रेम का यह संक्षिप्त परिचय है। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि रीतिकालीन दृष्टिकोण की अपेक्षा प्रेम के प्रति उनका दृष्टिकोण अधिक स्वस्थ, उच्च और पवित्र है। उन्होंने प्रेम के, जो ५ भेद सानुराग, सौहार्द, भक्ति, वात्सल्य और कार्पण्य किए हैं प्रायः ठीक ही हैं। इस प्रकार का भेद लोक में अनजाना तो नहीं पर किसी ने इस प्रकार का सम्भवतः कोई विभाजन किया नहीं है। इस सम्बन्ध में एक बात अवश्य कही जा सकती है कि यह विभाजन किसी मनोवैज्ञानिक आधार पर या चिंतन के बाद नहीं किया गया है। उदाहरणतः एक ओर भक्ति तथा वात्सल्य प्रेम छोटे,बड़े आदि अवस्था पर आधारित हैं तो दूसरी ओर सानुराग मादन भाव (sex) पर और तीसरी ओर कार्पण्य हृदय की दशा पर। कुछ भी हो उस काल के युग में देव से मनोवैज्ञानिक विवेचन की आशा रखना व्यर्थ है, अन्य रीतिकालीन कवियों की तुलना में देव ने यही जो किया है कम नहीं है।

(ग) दर्शन

देव की तत्त्वचिंतना या उनके दार्शनिक विचारों के लिये प्रधानतः उनके दो ग्रन्थ 'देवमाया प्रपञ्च नाटक' तथा 'देवशतक' हमारे समक्ष हैं। इनके अतिरिक्त कुछ थोड़े से छन्द और ग्रन्थों में भी मिलते हैं। पूरी सामग्री पर विचार करने से पता चलता है कि देव की स्थिति कुछ तुलसी-सी है। एक ओर तो ये अद्वैतवादी हैं और दूसरी ओर अद्वैतवादी विरोधी भावनाओं वाले वैष्णव। देवमाया प्रपंच नाटक में परपुरुष

उनका ब्रह्म है जो स्पष्टतः अद्वैतवादी ब्रह्म है। माया के आवरण से वही सगुण या जीव हो जाता है और उस आवरण के हट जाने पर पुनः पूर्ण स्वरूप में निर्गुण हो जाता है। देवमाया प्रपंच का परंपुरुष भी पहले माया के बन्धन मे पड़ जाता है पर फिर सत्सङ्गति, श्रद्धा तथा करुणादि के प्रभाव से मुक्त होकर शुद्ध हो जाता है। इस सम्बन्ध में देव की कुछ पंक्तियाँ भी देखी जा सकती हैं—

१. माया त्रिभुवननाथ बाँधि नचायो गुननि त्यों।
२. छूटि गये गुन सगुन के निर्गुन रह्यो निदान।

वे ये भी मानते हैं कि ब्रह्म स्वयं माया को अपने से उत्पन्न कर बँध जाता है—

पै अपने गुन यों बँधे माया को उपजाय।
ज्यों मकरी अपने गुनन उरझि-उरझि मुरझाय॥

कहना न होगा कि ब्रह्म से सम्बन्धित ये सारी बातें अद्वैतवाद या मायावाद की हैं, पर दूसरी ओर देव सच्चे वैष्णव भी हैं, जिन्हें अवतारों में पूरा विश्वास है। इसी कारण उन्होंने कृष्ण, राधा, राम, सीता, आदि में भी अपनी पूरी आस्था प्रकट की है। यहाँ एक और बात का स्पष्टीकरण आवश्यक है। तुलसी के समय से वैष्णव और शैव आज के शिया और सुन्नी मुसलमानों की भाँति एक दूसरे को अधर्मी कहते थे तथा झगड़ते रहते थे। यहाँ तक कि दोनों सम्प्रदायों की स्त्रियाँ गोबर से घर लीपते समय भी हाथ चलाने में इस बात का ध्यान रखती थीं कि दूसरे सम्प्रदाय का कहीं त्रिपुण्ड या टीका न बन जाय। पर देव इतने संकीर्ण न थे। उन्होंने राधाकृष्ण और राम सीता के साथ शिव-पार्वती[1] और दुर्गा के प्रति भी भक्ति के पद लिखे हैं। ऐसी दशा में

[1] कृष्ण के भक्त होते हुए भी उन्होंने शिवलिंग की स्थापना की। पीछे जीवन भाग में हम लोग देख चुके हैं।

तुलसी की भाँति इस दिशा में देव को समन्वयवादी कहना क्या अनुचित होगा ?

देव की माया अद्वैतवादियों की माया की भाँति ही ब्रह्म से उद्भूत होकर उसे ही बाँधती है और फिर ज्ञान हो जाने पर हट जाती है। देव जगज्जननी को भी माया का ही अवतार मानते हैं। वे कहते हैं, माया ने ही जगज्जननी बनकर अपने पिता ईश्वर से विवाह कर पुत्र-पुत्रियाँ उत्पन्न कीं—

मात ह्वै आपु जनी जगमात किधौं पति तात सुतासुत जायो,
ता उर माँह रमा ह्वै रमी बिधि बाम नरायन राम रमायो;
लोक लिहैं गुन चारिहूँ मैं, जग देखौ बिचारि हमारोई गायो,
जौ हम सीस धरे रजनीस कै, तौ बहि ईस लै सीस चढ़ायो।

इसी बात को एक स्थान पर और भी कहा है-

माया देवी नायिका नायक पुरुष आप।

माया बड़ी ही शक्तिशालिनी है। ऊपर के छन्द में हम लोग देख चुके हैं कि उसके फन्दे में सर्व-शक्तिमान ब्रह्म भी आ गए। यहाँ उसकी और भी शक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

फेरति पताल कै अकास निसि बासर हूँ,
आसपास तिमिर तरनि उगलती है।
प्रगटत पूरब छिपत दोऊ पच्छिम मैं,
दच्छिन और उत्तर अयन विहरती है।
एक तें अनेक कै अनेक तें करत एक,
पंचभूत भूत अद्भुत गुनमती है।
पुरुष पुरानहिं खिलावै बटा जीवी पटा,
सीतभानु भानु देवमाया भानुमती है॥

देव ने माया शक्ति का वर्णन करते करते उसे नियति या भाग्य का समानार्थी भी कर दिया है पर इसका केवल यही अर्थ है कि वह जो भी चाहे कर सकती है। उसके लिए कुछ भी असम्भव नहीं—

किया है। रीतिकालीन श्रेष्ठ नीतिकारों में वृन्द, दीनदयाल, गिरिधर कविराय तथा बिहारी आदि हैं। नीतिकारों में देव का नाम नहीं है। यों देव के नाम पर भी एक नीतिशतक ग्रन्थ कहा जाता है पर अभी तक यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो सका।

देव के प्राप्त ग्रन्थों में भी नीति या उपदेश के कुछ वाक्य या छंद मिलते हैं।

पीछे प्रेम पर विचार करते हुए कहा जा चुका है कि जीवन में या संसार में प्रेम को देव सबसे ऊँचा स्थान देते हैं। प्रेम के संबंध में देव के कुछ उद्धरण द्रष्टव्य हैं—

१. नेह बिना सिगरो सवाद खेह नायगो।

२. विषैबंधु बूड़े मद मोह सुत द्वै देखि,
अहंकार मीत मरि मुरझि मंहि पर्यो।
आसा त्रिसना सी बहू बेटी लै निकसि भागी,
माया मेहरी पै देहरी पै न रहि पर्यो।
गयो नहि हेर्यो लयो बन में बसेरो नेह,
नदी के किनारे मन मन्दिर ढहि पर्यो[1]।

३. नव सुंदर दम्पति जदपि सुख सम्पति को मूल।
प्रेम बिना छिन छेम नहि हेम सलाका तूल।[2]

मन के सम्बन्ध में भी देव ने बड़ी चुभती बातें कही हैं। उसे 'माखन सो मन' या 'पघिलान्यो मन मोम सो' कहा है। आशय यह है कि मन बहुत जल्द पिघलता है; उसका कुछ ठीक नहीं।

---

[1] अर्थात् प्रेम में वासना, आशा, तृष्णा, माया, मद, मोह, अहंकार आदि का नाश हो जाता है।

[2] सुख पूर्ण दांपत्य जीवन के लिए सौन्दर्य नहीं, प्रेम आवश्यक है।

१. काहे को मेरे कहावत मेरो जुपै मन मेरो न मेरो कह्यौ करे[1] ।
२. हाय कहा कहौं चंचल या मन की गति मैं मति मेरी भुलानी ।
हौं समुझाय कियो रस-भोग न तेऊ तऊ तिसना बिनसानी ।
दाड़िम, दाख, रसाल, सिता मधु ऊख पिए औ, पियूष से पानी ।
पै न तऊ तरुनी तिय के अधरान की पीवे की प्यास बुझानी ।
३. जौहीं लौं न जाके अनजाने रही तौ लौं अब
मेरो मन भाई बहकाए बहकत नाहि[2] ।

नास्तिक या आज के कम्युनिस्टों या कुछ आर्य समाजियों से मिलते-जुलते विचार भी देव में मिलते हैं, यद्यपि वे उनके अपने विचार नहीं हैं ।

श्राद्ध की अयथार्थता के विषय में कहा है—

मूढ़ कहैं मरिकै फिरि पाइए ह्याँ जु लुटाइए भौन भरे को ।
ते खल खोइ खिस्यात खरे अवतार सुन्यो कहुँ छार परे को ।
जीवत तौ व्रत भूख सुखौत सरीर महा सुररुख हरे को ।
ऐसी असाधु असाधुन की बुधि साधन देत सराध मरे को ॥

सनातन धर्म की व्यर्थता के विषय में कहा है—

को तप कै सुरराज भयो जमराज को बन्धन कौने खुलायो ।
मेरु मही में सही करिकै गथ ठेस कुबेरु को कौने तुलायो,
पाप न पुन्य न नर्क न सर्ग मरो सुमरो फिरि कौने बुलायो ।
मूढ़ ही बेद पुराननि बाँचि लबारनि लोग भले भुरकायो ॥

सारे संसार को एक मानते हुए कहा है—

हैं उपजे रज बीज ही तें बिनसे हू सबै छिति छार कै छाड़े,
एक-से देखु कछू न बिसेखु ज्यों एकै उन्हार कुम्हार के भाँड़े,

---

[1] जो मन अपना कहा नहीं करता । उसे कैसे अपना कहा जाय ?

[2] जो बात मन में एक बार बैठ जाती है फिर जल्द नहीं निकलती ।

तापर ऊँच औ नीच विचारि वृथा बकि बाद बढ़ावत चाँहैं;
बेदनि मूँदु कियो इन दूँदु कि शुद्ध अपावन पावन पाँहैं ॥

संक्षेप में कुछ और विषयों पर भी देव के नीतिपूर्ण विचार देखे जा सकते हैं—

कवि—जाके न काम न क्रोध विरोध न लोभ छुवै नहिं छोभ को छाहौ ।
मोह न जाहि रहै जग बाहिर मोल जवाहिर तौ अति चाहौ ।
बानी पुनीत ज्यौं देवधुनी, रस आरद-सारद के गुन गाहौ ।
सील-ससी सबिता-छबिता कविताहि रचै कवि ताहि सराहौ ।

नौकर—पावक में बसि-आँच लगै न बिना छत खाँड़े कि धार पै धावै ।
मीत सो भीत अभीत अमीत सो दुख सुखी सुख मैं दुख पावै ।
जोगी है आठ हू जाम जगै अठजामनि कामनि सो मनु लावै ।
आगिलो पाछिलो सोचि सबै फल कृत्य करे, तब भृत्य कहावै ॥

सत्य—जो कुछ पुन्य अरन्य जलस्थल तीरथ खेत निकेत कहावै ।
पूजन जाजन औ जप दान अन्हान परिक्रम गान गनावै ॥
और किते ब्रत नेम उपास अरंभु कै देव को दम्भु दिखावै,
है सिगरे परपञ्च के नाथ जु पै मन मैं सुचि साँच न आवै ॥

भक्ति—कथा मैं न कंथा मैं न तीरथ के पंथा मैं न,
पोथी मैं न पाथ मैं न साथ की बसीति मैं,
जटा मैं न मुंडन न, तिलक त्रिपुरण्डन न,
नदी-कूप-कुंडन अन्हान दान-रीति मैं ।
पैठ-मठ-मंडल न, कुण्डल कमंडल न,
माला दण्ड मैं न देव देहरे की भीति मैं,
आपु ही अपार पारावार प्रभु पूरि रह्यो,
पाइए प्रगट परमेसुर प्रतीति मैं ॥

अभिमान—है अभिमान तजे सनमान वृथा अभिमान को मान बहैये ।
विनय—पैये असीस लचैये जो सीस लची रहिए तब ऊँची कहैये ।

मधुर भाषण—को सुनि कै बिनु मोल बिकायन बोलन कोइ को
मोल न हैये ।

परोपकार—जीवन को फल जगजीवन को हितु करि,
जग मे भलाई करि लेयगो सु लेयगो !

काल—हाय दई यहि काल के ख्याल मै फूल से फूलि सबै कुम्हिलाने,
देव अदेव बली बलहीन चले गये मोह की हौसहि लाने ।
या जग बीच बचै नहि मीचु पै, जे उपजे ते मही मे मिलाने,
रूप, कुरूप, गुनी, निगुनी जे जहाँ जनमे ते तहाँई बिलाने ।

भगवान की शक्ति—चाहै सुमेरु को छारि करै,
अरु छार को चाहै सुमेरु बनावै ।
चाहै तो रंक को राव करै,
चाहै राव को द्वार ही द्वार फिरावै ॥
रीति यही करुणाकर की कवि
देव कहै बिनती मोहि भावै ।
चींटि के पाँव में बाँधि कै हाथी,
वह चाहे समुद्र को पार लगावै ॥

संसार—कबहूँ न जगत कहावत जगत है ।

रहस्य की बात—मनिक सो मन खोलिए काहि,
कुगाहक नाहक के बहुतेरे ।

देव ने कुछ अन्योक्तियाँ भी लिखी हैं—

पावस घन चातक तजै चाहि स्वाति जल बिंदु,
कुमुद मुदित नहिं मुदित मन जौलौ उदित न इन्दु ।

देव के इन नीति वाक्यों में रहीम, वृन्द या बिहारी जैसी चुभने-वाली चीज नहीं है अतः इन्हे नीति या सिद्धान्तो की दृष्टि से साधारण कोटि का कवि कहा जायगा ।

(ङ) चित्र

१. प्रकृति

प्रकृति मानव की सहचरी है। वह अपनी सारी आवश्यकताएँ उसी से पूरी करता है। इस प्रकार मानव जीवन में प्रकृति का बहुत महत्त्व-पूर्ण स्थान है। जीवन की आलोचना कविता में भी उसका कम महत्त्व-पूर्ण स्थान नहीं है। किसी भी देश की किसी भी काल की कविता को हम देखें, किसी न किसी रूप में प्रकृति अवश्य झाँकती मिलेगी। रीति-कालीन परिस्थितियों पर विचार करते समय हम देख चुके हैं कि यह प्रत्येक दृष्टि से उतार का काल था। इसी कारण प्रकृति के मुक्त चित्रण तो इस काल में प्रायः कम मिलते हैं पर प्रकृति-चित्रण का एकांत अभाव भी नहीं कहा जा सकता है।

साहित्य में प्रकृति-चित्रण की प्रमुखतः पाँच शैलियाँ प्रचलित हैं। १. मुक्त चित्रण—इसमें प्रकृति चित्रण ही कविता का उद्देश्य होता है और विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रकृति को चित्रित किया जाता है। यहाँ प्रकृति पर अपनी भावनाओं के सुख-दुःख को लादा नहीं जाता। अङ्गरेज़ी कवि वर्ड्सवर्थ तथा हिंदी के श्रीधर पाठक आदि ने इस प्रकार के चित्रण किये हैं। २. आग्रहपूर्ण चित्रण—इस प्रकार के चित्रण में भी चित्रण तो केवल प्रकृति का ही होता है पर उस पर कवि या कवि के किसी पात्र की भावनाओं का आग्रह रहता है। रस्किन ने इसे 'पैथेटिक फैलेसी' कहा है। हिंदी के षट्ऋतु वर्णनों तथा बारहमासों में यही प्रवृत्ति पाई जाती है। संयोग शृङ्गार में वर्णित प्रकृति सुखकर तथा वियोग में वर्णित कष्टकर होती है। ३. पृष्ठ-भूमि—कुछ चित्रण मुक्त न होकर केवल पृष्ठभूमि के लिये होते हैं। फ़ोटो या चित्र आदि में पीछे जिस प्रकार चित्र की स्पष्टता के लिये 'बैकग्राउंड' देते हैं, इस प्रकार का प्रकृति-चित्रण कविता में यही काम करता है। 'प्रिय प्रवास' के प्रायः सभी सर्ग इसे प्रकार के वर्णनों से

आरम्भ होते हैं। 'पथिक' तथा 'पञ्चवटी' में भी इस प्रकार का प्रकृति-चित्रण बड़ा मनहर है। इस प्रकार के प्रकृति-चित्रण कभी-कभी आगामी घटनाओं की भयानकता या मधुरता के अनुसार माधुरी या भयानकता पूर्ण होते हैं। ४. अलंकरण—कभी-कभी उपमा उपमेय आदि के लिये प्रकृति के उपकरणों का सहारा लेते हैं। उदाहरणार्थ मुँह की उपमा चंद्रमा तथा कमल आदि से दी जाती है। ५. नीत्यारोपित—कभी-कभी प्रकृति-चित्रण के साथ-साथ नीति या उपदेश भी जुड़े रहते हैं। संस्कृत में श्री मद्भागवत में इस प्रकार के चित्रण हैं। तुलसी का शरद वर्णन या वर्षा वर्णन भी इसी श्रेणी का है।

देव का प्रकृति वर्णन हिंदी साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। देव में चित्रकारिता की अप्रतिम प्रतिभा थी। इसी प्रतिमा के कारण उनके चित्रणों में सजीवता है। इसके अतिरिक्त उनका शब्द-चयन भी चित्रकारिता के उपयुक्त है अतः उनके चित्रों के भाव स्वतः स्पष्ट होते चलते हैं। तीसरी बात यह है कि उनका प्रकृति निरीक्षण भी बड़ा गहरा है अतः उसमें यथार्थता का पुट खूब है। अब उपर्युक्त शैलियों में प्रमुख का देव में अध्ययन किया जा सकता है।

मुक्त प्रवृति-चित्रण रीतिकाल में प्रायः बहुत कम मिलता है, किन्तु देव ने इधर पर्याप्त ध्यान दिया है। शरद की कौमुदी का एक चित्र पर्याप्त होगा।

आसपास पुहिमि प्रकास के पगार सूझै,
बन न अगार, डीठि गली औ निबर तैं
पौरावार पारद अपार दसौं दिसि बूड़ी;
चंड ब्रह्मण्ड उतरात विधुबर तैं
सरद-जोन्हाई जन्हु-जाई धोर सहज;
सुधाई सोभा सिंधु नभ सुभ्र गिरबर तैं

उमड़ो परत जोति-मंडल अखण्ड सुधा,
मंडल, मही में बिधु-मंडल बिवर तें।

आग्रहपूर्ण चित्रण तो रीतिकाल के प्रकृति वर्णन का आधे से अधिक भाग है। इसका कारण यह है कि रीतिकालीन कवियों का प्रधान ध्यान नायक और नायिकाओं पर रहा है और नायक नायिकाओं की संयोगावस्था या वियोगावस्था में उनके ही चश्मे से कवियों ने प्रकृति को देखा है। इसी कारण कभी तो प्रकृति आकर्षक है और कभी जलाने वाली। आकर्षक प्रकृति का देव से उदाहरण लीजिए—

माधुरे झौरनि फूलनि मौरनि, बौरनि बौरनि बेलि बची है।
केसरि किंसु कुसुंभ कुरौं, किरवार कनैरनि रङ्ग रची है॥
फूले अनारनि चंपक डारनि, लै कचनारनि नेह तची है।
कोकिल रागनि नूत परागनि, देखु री बागनि फाग मची है॥

प्राकृतिक शोभा में यह फाग का चित्र कितना उल्लासपूर्ण है! दूसरी ओर वियोगिनी प्रकृति के सौंदर्यपूर्ण उपादानों से कष्टित होती हुई कहती है—

जागी न जोन्हाई लागी आगि है मनोभव की,
लोक तीनो हियो हेरि-हेरि हहरत है।
बारि पर परे जलजात जरि बरि-बरि,
बारिधि ते बाड़व-अनल पसरत है।
धरनि ते लाइ झरि ,छूटी नभ जार, कहै,
देव जाहि जोवत जगत हू जरत है।
तारे चिनगारे ऐसे चमकत चहूँ ओर,
बैरी विधु-मंडल भभूको-सो बरत है॥

पृष्ठभूमि के रूप में भी देव ने प्रकृति-चित्रण किया है। नायिका के विरह का चित्र खींचना है। कवि समझ-बूझकर प्रकृति का ऐसा चित्र देता है जिसमें उसका विरह अधिकाधिक उद्दीप्त रहेगा—

दमसे भिरत, चहुँघाई सों घिरत घन,
आवत भिरन भीने भरसों झपकि-झपकि।
सोरन मचावैं नचैं मोरन की पाँति चहूँ,
ओरन ते कौंधि जाति चपला लपकि लपकि।
बिन प्रानप्यारे प्रान न्यारे होत देव कहै,
नैन बरुनीन रहे अँसुआ टपकि-टपकि।
रतिया अँधेरी, धीर न तिया धरति, मुख
बतिया कढ़ै न उठै छतिया तपकि-तपकि॥

ऐसे प्रकृति चित्रों से कवि अपने मूल विषय की तेज़ी बढ़ा देते हैं। ऊपर के छन्द में यदि प्रारंभ की दो पंक्तियों को छोड़कर शेष दो को पढ़ा जाय तो विरहिणी नायिका के चित्र में कोई सजीवता नहीं रह जायगी।

यह तो वियोग के संताप के वर्णन की पृष्ठभूमि थी। इसी प्रकार संयोग के उल्लास के वर्णन के लिये भी देव ने प्रकृति को पृष्ठभूमि बनाई है—

नगर निकेत सेत रेत सब सेत-सेत,
ससि के उदोत कछु देत न दिखाई है।
तारका मुकुत-माल झिलमिलि झालरनि,
बिमल बितान नभ आभा अधिकाई है।
सामोद प्रमोद ब्रज-बीथिनि बिनोद देव,
चहूँ कोद चाँदनी की चादरि बिछाई है।
राधा मधु मालतिहि माधव मधुप मिले,
पालिक पुलिन भीनी परिमल भाई है॥

यह राधा और माधव के मिलन का वर्णन है कवि ने मिलने के पूर्व चाँदनी के वर्णन द्वारा चित्र में प्राण डाल दिया है।

अलङ्कार के रूप में तो प्रायः सभी कवि प्रकृति का प्रयोग करते हैं।

इस सम्बन्ध में कवि सम्प्रदाय हैं। जैसे मुख की उपमा चंद्रमा या कमल से, वेणी की अन्धकार, यमुनातरंग, शैवाल या वर्ह से तथा आँखों की नीलकमल, खंजन या मीन आदि से। देव से कुछ उदाहरण लीजिए—

१. कंज सो आनन खंजन सों दृग या मन रंजन भूलैं न वोऊ।

२. ऐपन की ओप इन्दु कुन्दन की आभा चंपा,
केतकी को गाभा पीत जोतिन सों जटियत।

३. वारौं री कंचन-कंज-कली पिकवैनी के ओछे उरोजन ऊपर।

देव के प्रकृति-चित्रणों में प्रभात, संध्या, षटऋतु, चाँदनी तथा पवन-वर्णन अधिक सुन्दर वन पड़े हैं। यहाँ कुछ सुन्दर वर्णन देखे जा सकते हैं। पवन का एक वर्णन है—

अरुन उदोत सकरुन ह्वै अरुन नैन,
तरुनी-तरुन-तन तूमत फिरत है।
कुञ्ज-कुञ्ज केलि कै नवेली बाल बेलिन सों,
नायक पवन बन झूमत फिरत है।
अंब-कुल, बकुल समीड़ि, पीड़ि पाड़रनि,
मल्लिकान मीड़ि घने, घूमत फिरत है।
द्रुमन-द्रुमन दल दूमत मधुप 'देव',
सुमन-सुमन-मुख चूमत फिरत है॥

इसमें पवन को सजीव मानकर कवि ने उसे नायक बनाया है और उसकी शरारतों का बड़े ही सुन्दर शब्दों में वर्णन किया है। कभी-कभी देव दूर की कौड़ी भी लाते थे और बड़े-बड़े मज़मून बाँधते थे। पवन में शीतलता, मंदता और सुगंधि ये तीन गुण हैं। कवि ने इन तीन गुणों को अवगुण या दोष सिद्ध किया है—

संजोगिन की तू हरे उर-पीर, वियोगिन के सु-धरे उर पीर;
कलीनु खिलाय करै मधु-पान, गलीन भरै मधुपान की भीर।

नर्चे मिलि बेलि-वधूनि, अँचै रसु, 'देव' नचावत आधि अधीर;
तिहूँ गुन देखिए, दोष भरे अरे! शीतल मन्द सुगन्ध समीर!

देव का एक पावस वर्णन है—

सुनिकै धुनि चातक-मोरनि की चहुँ ओरन कोकिल-कूकनि सों,
अनुराग-भरे हरि बागनि में सखि, रागति राग अचूकन सों।
'कवि देव' घटा उनई, जुनई, बन भूमि भई दल-दूकनि सों;
रंगराती हरी हहराती लता, झुकि जाती समीर के झूकनि सों।

यह चित्र मुझे तो हिंदी साहित्य में अकेला लगता है। इसकी अंतिम दो पंक्तियाँ पढ़ते हुए ऐसा लगता है कि पावस साक्षात् मूर्तिमान है। ऐसे चित्रों में देव का शब्द चयन बड़ा काम करता है। यहाँ भी यही बात है। किसी अँग्रेजी कवि की कविता की परिभाषा best words in best order, यहाँ चरितार्थ हो जाती है।

वसन्त का एक चित्र है—

सीतल मंद सुगंध सुलावति पौन डुलावति को न लची है;
नील गुलाबनि कौल कुलाबनि जौन-कुलावनि प्रेम पची है;
मालती, मल्लि, मलेज, लवंगनि, सेवती संग समूह सची है;
देव सुहागनि आजु के भागनि देखुरी, बागनि फागु मची है॥

यहाँ कवि ने प्रकृति में फाग का रूपक बाँधा है।

देव ने अपने एक छन्द में छहों ऋतुओं को उपस्थित किया है—

पून्यो प्रकास उकासि कै सारदी, आसहू पासवसाय अमावस,
दै गए चिंतन, सोच-विचार सु ले गये नींद छुधा, बल-आवस।
हैं उत 'देव' वसंत सदा इत हेंउत हैं हिय कंप महा वस;
लै सिसिरी-निसि, दै दिन-ग्रीसम आँखिन राखि गये ऋतु-पावस।

श्रीकृष्ण विहारी मिश्र के शब्दों में इसका आशय है—'शारदी पूर्ण चन्द्र की शुभ्र ज्योत्स्ना के स्थान पर चारों ओर अमावस्या का घोर अंधकार व्याप्त हो रहा है। सुखद निद्रा स्वास्थ्य-सूचिका क्षुधा

एवं यौवन-सुलभ बल के स्थान में संकल्प-विकल्प और चिंता रह
है। हेमन्त आया पर प्रियतम परदेश में बसते हैं, वसंत भी वहीं
यहाँ तो हृदय के घोर रूप से कपांयमान होने के कारण हेमन्त ही है
संयोगियों की सुखमय शिशिर-निशा भी उन्हीं के साथ गई; यहाँ त
ग्रीष्म के, विकलकारी दिन हैं; या नेत्रों के अविरल अश्रु-प्रवाह से उनम
पावस-ऋतु देख पड़ती है।'

देव के प्रकृति-चित्रण का यह संक्षिप्त परिचय है। हिंदी के कवियों में सूर, तुलसी, सेनापति, श्रीधर पाठक तथा श्री सुमित्रानंदन पंत ने प्रकृति-चित्रण की ओर विशेष ध्यान दिया है। यहाँ इन सभी से तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना तो सम्भव नहीं पर यह निश्चित है कि प्रकृति के रूप का जितना सफल चित्र अपने शब्द चयन के आधार पर देव प्रस्तुत कर सके हैं, उपर्युक्त कवियों में कोई नहीं कर सका है। हाँ, एक बात अवश्य है कि इनके चित्रों में प्रकृति के सूक्ष्म अध्ययन की छाप कम रहती है। परम्परा का इन्होंने अधिक ध्यान रक्खा है। सेनापति की भाँति इनमें नवीनता भी प्रायः नहीं के बराबर है।

२. मानव

मनुष्य की सहचरी प्रकृति की भाँति ही देव ने मनुष्य के भी चित्र खींचे हैं। ये चित्र भी प्रकृति के चित्रों की भाँति ही अत्यन्त हृदयग्राही, सफल तथा सजीव हैं। देव के मानव चित्रों को वाह्य और आंतर दो भेदों में बाँट सकते हैं। वाह्य चित्र में स्त्री और पुरुष के शरीर के चित्र हैं और आंतर में उनके हृदय के आंतरिक भावों के चित्र हैं। वाह्य चित्र के चल और अचल दो और विभेद किए जा सकते हैं। चल चित्रों में व्यक्ति के चित्र कुछ करते समय खींचे गए हैं और अचल में स्थिरावस्था में।

पहले आंतर चित्र लीजिए। आंतर चित्रों का रसों से विशेष संबंध है इसी कारण इसमें विभिन्न रसों में हृदय के चित्र, शृङ्गार के दस हाव

तथा दश अवस्थाओं आदि को ले सकते हैं। यहाँ विस्तार से इन सब को अलग-अलग न लेकर कुछ बानगी ली जायगी।

नायिका उन्मादावस्था में लीन है। वह अकबक कर रही है। कवि ने ऊपर की दशा का ऐसा चित्र खींचा है कि उसका अंतर स्पष्ट हो जाता है—

> आक बाक बकति, बिथा में बूड़ि-बूड़ि जाति,
> पी की सुधि आये जी की सुधि खोय-खोय देति।
> बड़ी-बड़ी बार लगि बड़ी-बड़ी आँखिन ते
> बड़े-बड़े अँसुवा हिये सनोय मोय देति।
> कोह-भरी कुहकि, बिमोह-भरी मोहि-मोहि,
> छोह-भरी छितिहि करोय रोय-रोय देति।
> बाल बिन बालम बिकल बैठी बार-बार,
> बपु में बिरह-बिष-बीज बोय-बोय देति।

कृष्ण ने बंशी बजाई है और गोपियाँ अपने सारे काम छोड़ उधर ही भाग रही हैं। यहाँ कौतूहल, उत्सुकता और आकुलता का चित्र देखने ही योग्य है—

> घोर तरुनीजन बिपिन तरुनीजन है
> निकसी निसंक निसि आतुर अतंक में
> गनै न कलंक मृदु लंकनि मयंक-मुखी
> पंकज-पगन धाई भागि निसि पंक में
> भूषननि भूलि पैन्हे उलटे दुकूल देव
> खुले भुजमूल प्रतिकूल बिधि बंक में
> चूल्हे चढ़े छाँड़े उफनात दूध-भाँड़े, उन
> पूत छाँड़े अंक, पति छाँड़े परजंक में।

राधा के हृदय को मोहनमय और मोहन के हृदय को राधामय हो जाने की अवस्था को देव चित्रित करते हैं—

रीझि-रीझि रहसि रहसि हँसि हँसि उठै
साँसैं भरि आँसू भरि कहत दई-दई।
चौंकि-चौंकि चकि-चकि औचकि उचकि "देव"
थकि-थकि बकि-बकि उठति बई बई।
दुहुन के गुन रूप दोऊ बरनन फिरैं
पल न थिरात रीति नेह की नई-नई।
मोहि-मोहि मोहन को मन भयो राधामय
राधा-मन मोहि-मोहि मोहनमयी भई॥

करुणा का देव ने एक चित्र खींचा है—

पीर पराई सों पीरो भयो मुख, दीननि के दुख देखे बिलाती।
भीजि रही करुना करुनारस काल कि केलिनु सो कुम्हिलाती॥
लै-लै उसासन आँसुन सो उमगै सरिता भरिकै ढरि जाती।
नाव लौं नैन भरैं उछरैं जल ऊपर ही पुतरी उतराती॥

अन्तिम चित्र श्रद्धा का लिया जा सकता है—

कान भुराई पै कान न आनति आनन आन कथा न कढ़ी है,
एक ही रंग रँगी नखते सिख एकहि सङ्ग विवेक बढ़ी है,
देखिये देव जबै तब ज्योंहि त्यों, दूसरि पद्धतियै न पढ़ी है।
को बिरचै कुल-कानि अचै मन के निहचै हिय चैन चढ़ी है॥

अब बाह्य या शारीरिक चित्रों पर आ सकते हैं। पहले चल चित्र लीजिए। ऊपर भी कुछ इस प्रकार के चित्र आ चुके हैं।

देखने की क्रिया का चित्र देखिए—

तीखी दिन चारिक तें सीखी चितवनि प्यारी;
'देव' कहै भरि दृग देखत जितै-जितै,
आछी उनमील नील सुभग सरोजन की,
तरल तनाइयत तोरन तितै-तितै।

इस पर तुलसी की अर्द्धाली याद आ जाती है—

जहँ बिलोकि मृग सावक नैनी।
जनु तहँ बरसि कमल सित सैनी।

हिंडोला पड़ा है। प्रेमी युगल झूल रहे हैं। देव झूलने का चित्र खींचते हैं। अर्थ की ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं। शब्दों की ध्वनि स्वयं अर्थों को स्पष्ट कर रही है—

सहर-सहर सोंधो, सीतल समीर डोलै,
घहर-घहर घन घेरिकै घहरिया।
झहर-झहर झुकि झीनी झरि लायो 'देव',
छहर-छहर छोटी बूँदनि छहरिया।
हहर-हहर हँसि-हँसि कै हिंडोरे चढ़ी,
थहर-थहर तन कोमल थहरिया।
फहर-फहर होत पीतम को पीत पट
लहर-लहर होत प्यारी की लहरिया।

मान करने का एक चित्र देखिए।·'मृगलोचनी गुरुजन और सखी के पास बैठी थी। प्रियतम ने आकर जरा हँसकर हाथ छू दिया। इस पर लज्जाशीला नायिका को अपने गुरुजन और बहिरङ्गा सखी का संकोच हुआ। इनके सामने नायिका को इस प्रकार का स्पर्श अच्छा न लगा। वह रुष्ट हो गई। नायक ने यह बात भाँप ली और वह मुसकरा कर साधारण रीति से उठकर चला गया। इधर इसे जो पीछे ख़्याल आया, तो इसने सारी रात सिसक-सिसक कर काटी, और रोकर सवेरा पाया'। इस दशा का वर्णन करते हुए एक सखी दूसरी सखी से कहती है—बिना विरही के इस विरह व्यथा का मर्म और कौन जान सकता है? नायिका को कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा है। वह हाय-हाय करके पछता रही है, और उसके बड़े-बड़े नेत्र में भर-भर के आँसू टपक रहे हैं जिससे ऐसा जान पड़ता है कि मानो यह गोरा-गोरा मुख आज ओले के समान गायब हुआ जाता है।'

सखी के सकोच, गुरु सोच मृगलोचनि,
रिसानी पिय सों जु उन नेकु हँसि छुयो गात।
'देव' वै सुभाय मुसुकाय उठि गये, यहि,
सिसकि-सिसकि निसि खोई, रोय-पायो प्रात।
को जानै री बीर, बिनु बिरही-बिरह बिथा,
हाय-हाय करि पछिताय, न कछू सोहात।
बड़े-बड़े नैनन सों आँसू भरि-भरि ढरि,
गोरो-गोरो मुख आज ओरो-सो बिलानो जात।

झूलने का एक और चित्र लीजिये—

झूलति ना वह झूलनि बाल की, फूलनि माल की लाल पटी की।
देव कहै लचकै कटि चंचल, चोरी दृगंचल चाल नटी की।
अञ्चल की फहरानि हिये रहि जानि पयोधर पीन तटी की।
किंकिनि की झननानि झुलावति, झूकनि सों झूकि जानि कटी की।

कवि लिखता है 'झूलति ना' सचमुच ही यह चित्र नहीं भूलता। इस चित्र में हम देखते हैं देव का इस विषय का सूक्ष्म अध्ययन निहित है। नायिका के झूलने में कटि का लचकना, अंचल फहराना तथा किंकिनी का बजना आदि कितना स्वाभाविक है, कहने की आवश्यकता नहीं?

अब अचल चित्र लिये जा सकते हैं। पहले स्त्री चित्र लीजिये। देव में स्त्री चित्र विविध प्रकार के हैं। आचार्य देव पर विचार करते समय हम लोग उनके ३८४ तथा अन्य नायिका भेदों को देख चुके हैं। कुछ को छोड़ उन सभी प्रकार के चित्र देव ने खींचे हैं। यहाँ इन विभिन्न प्रकार के नायिकाओं के सभी चित्र नहीं आ सकते अतः ,कुछ प्रतिनिधि चित्र दखे जा सकते हैं।

देव की जीवनी पर विचार करते समय हम देख चुके है कि इन्होंने भारतवर्ष की यात्रा की थी। इस यात्रा के अनुभवों को इन्होंने 'जाति-विलास' नामक ग्रन्थ का रूप दिया। इसमें विभिन्न देश, जाति तथा कार्य

करने वाली स्त्रियों का चित्रण है। इन विभिन्न जाति या देश की नारियों के चित्रण में शाब्दिक सौंदर्य तो है पर पीछे जैसा कि जाति विभाग पर विचार करते समय हम लोग देख चुके हैं, इनमें सूक्ष्म अध्ययन की चीजें प्रायः नहीं के बराबर हैं। कवि द्वारा वर्णित विभिन्न जाति या प्रांत की स्त्रियों के वर्णन में ऐसे वर्णन कम हैं या नहीं हैं जो अपने आप कह दें कि ये अमुक प्रकार की स्त्री के वर्णन हैं। फिर भी कुछ चित्र अच्छे बन पड़े हैं।

साँवरी सुघर नारि महा-सुकुमारि सोहै,
सोहै मन मुनिन को मदन तरंगिनी।
अनगने गुननके गरब गहीर मति,
निपुन संगीत-गीत सरस प्रसंगिनी।
परम प्रवीन बीन, मधुर बजावै गावै,
नेह उपजावै यों रिझावै पति-संगिनी।
चारु सुकुमार भाव मोहन दिखाय 'देव'
विगनि अलिंगन बतावति तिलंगिनी॥

छंद बुरा नहीं है पर कवि ने उल्लेख्य बात केवल एक कही है और वह यह है कि तिलंगाने की स्त्रियाँ संगीत में निपुण होती हैं।

अहीरिन का चित्र देव ने अच्छा खींचा है—

माखन सो मन दूध सो जोबन, है दधि ते अधिकै उर ईठी।
जा छबि आगे छपाकर छाछ समेत-सुधा बसुधा सब सीठी।
नैनन नेह चुवै 'कवि देव' बुझावति बैन वियोग-अँगीठी;
ऐसी रसीली अहीरी अहै! कहौ, क्यों न लगै मनमोहनै मीठी?

अहीरिन के दूध, दधि, छाछ और मक्खन से उसकी उपमा कितनी व्यंजनापूर्ण है। काश्मीर की सुन्दरियाँ शोभा की राशि समझी जाती हैं। देव लिखते हैं—

जोबन के रंग भरी ईंगुर से अंगनि पै,
एँड़िन लौं आँगी छाजै छबिन की भीर की?

उचके उचौहैं कुच झपे झलकत झीनी
झिलमिली ओढ़नी किनारीदार चीर की।
गुलगुले गोरे गोल कोमल कपोल सुधा,
बिंद बोल इंदु-मुखी नासिका ज्यों कीर की।
देव दुति लहराति छूटे छहरात केस,
बोरी जैसे केसरि किसोरी कसमीर की।

अब विशिष्ट देश जाति आदि छोड़ सामान्य स्त्री पर आइए। देव ने स्त्रियों के रूप चित्र खूब दिए हैं। सुन्दर शब्द-चयन, रूप साम्य और धर्म साम्य के अलंकरण के कारण उनके ये चित्र बड़े सफल हैं।

एक स्त्री-चित्र लीजिए। नायिका का कोठे पर चढ़ना, आँखों के ऊपर हथेली लगाकर ध्यान से देखना और फिर उतर जाना कितना उत्कंठापूर्ण है?

खरी दुपहरी हरी-भरी-फरी कुञ्ज मंजु
गुंज अलि-पुञ्जन की 'देव' हियो हरि जात,
सीरे नद नीर तरु सीतल गहीर छाँह,
सोवैं परे पथिक पुकारैं पिकी करि जात।
ऐसे मैं किसोरी भोरी, कोरी, कुम्हिलाने मुख,
पकंज से पाँव भरा धीरज सो धरि जात।
सोहैं घनस्याम-मग हेरति हथेरी-ओट,
ऊँचे धाम वाम चढ़ि आवति, उतरि जात।

इस छन्द में 'हेरति हँथेरी ओट' में देव की सूक्ष्म दृष्टि स्पष्ट है। सद्यस्नाता का नहाकर बाहर निकलने का चित्र बिहारी ने भी दिया है—

विहँसति सकुचति सी दिए कुच आँचर बिच बाँह।
भीजें पट तट को चली न्हाय सरोवर माँह।

देव इसी चित्र को और पूरा कर देते हैं—

पीत रंग सारी गोरे अंग मिलि गई 'देव'
श्रीफल-उरोज-आभा अभासै अधिक सी।
छुटी अलकनि झलकनि जल-बूँदनि की,
विना बेंदी-बंदन बदन सोभा विकसी।
तजि-तजि कुंज पुञ्ज ऊपर मधुप-पुञ्ज
गुंजरत मंजुवर बोलै बाल पिक-सी;
नीवी उकसाय नेक नैनन हँसाय हँसि,
ससिमुखी सकुचि सरोवर ते निकसी।

विहारी के वर्णन में 'कुच आँचर विच बाँह' में उनकी पैनी दृष्टि का परिचय मिलता है तो देव में 'पीत रङ्ग सारी गोरे अङ्ग मिलि गई' 'छूटी अलकनि झलकनि जल बूँदनि की' 'विना बेंदी माल' 'नीवी उकसाय' तथा 'सकुचि सरोवर ते निकसी' आदि सभी में उनकी सूक्ष्म दृष्टि स्पष्ट है। गोरे अङ्ग में मिलाने के लिए कवि ने पीली साड़ी ली है। नहाने के बाद उनका अंगों में मिल जाना और फिर कुचों का अधिक आभान्वित होना, छूटी अलकों में जल बूँदों का झलकना, निकलते समय नीवी उसकाना तथा सकुचना यह सभी कुछ अत्यन्त स्वाभाविक है और चित्र को विल्कुल स्पष्ट कर देता है।

स्वरूप की एक राशि देखिए। नाइन नहलाने आई है पर सौंदर्य देखकर ठगी सी रह जाती है। आश्चर्यान्वित या ठगे से होने पर हम दाँत तले उँगली दबाते हैं या हाथ से ठोढ़ी धरते हैं।

आई हुती अन्हवाहन नाइनि सोंधे लिये यह सूधे सुभायनि;
कंचुकी छोरी उतै उपटैवे को इंगुर-से अंग की सुखदायनि।
'देव' सुरूप की रासि निहारति पाय ते सीस लौं सीस ते पाँयनि,
ह्वै रही ठौर ही ठाढ़ी ठगी-सी, हँसै कर ठोढ़ी धरे ठकुरायनि।

सौंदर्य का एक अधिक पूर्ण चित्र लीजिए। सारूप्य धर्मी अलङ्कारों से चित्र की सफलता बढ़ गई है—

सूरज मुखी सी चंद्रमुखी को बिराजै मुख,
कुंदकली दन्त नासा किसुक सुधारी सी।
मधुप से नैन बर बंधु दल ऐसे होठ,
श्रीफल से कुचक चँवेलि तिमिरारी सी।
मोती बेल कैसे फूल मोती के भूपन,
सुचीर गुल चाँदनी सी चंपक की डारी सी।
केलि के महल फूलि रही फुलवारी देव,
तेहू मै उज्यारी प्यारी फूली फुलवारी सी।

इसी प्रकार का एक और चित्र है पर इसमें ज्योति अधिक है।

जगमगी जोतिन जड़ाऊ मनि-मोतिन की
चंद मुख मंडल पै मंडित किनारी सी।
बेंदी बर बीरन गहीर नग हीरन की
देव झमकनि में झमक भीर भारी सी।
अंग अंग उमड़्यो परत रूप रङ्ग नव
जोबन अनूपम उज्यास न उजारी सी।
डगर-डगर बगरावति अगर अङ्ग,
जगर-मगर आपु आवति दिवारी सी॥

ये सब पूरे चित्र थे। स्त्रियों के कुछ विशिष्ट अंगों के चित्र भी देव में बड़े सुन्दर हैं। विशेषतः नेत्रों तथा अलकों के चित्र देखने ही योग्य है।

वियोगिनी नायिका की आँख को कवि योगी बनाता है। देखिए कितना सटीक चित्र है और कवि की दृष्टि कितनी दूर तक दौड़ी है—

बरुनी बघंबर में गूदरी पलक दोऊ
कोए राते बसन भगोहैं भेप रखियाँ।
बूड़ी जल ही में दिन जामिनि हूँ जागे भौंहें
धूम सिर छायो बिरहानल बिलखियाँ।

अँसुवा फ़टिक माल, लाल डोरै सेल्ही पैन्हि,
भई हैं अकेली तजि चेली सँग सखियाँ।
दीजिए दरस देव कीजिए सँजोगनि ये
जोगिन ह्वै बैठी वियोगिनि की आँखियाँ।

देव ने एक छन्द में आँख के सभी उपमानों को एकत्र कर दिया है और आँख के प्रायः सभी गुणों एवं सौन्दर्य को एक ही छन्द में चित्रित कर दिया है।

चंद्रमुखि ते के चप चितैं चकि चेति चपि,
चित चोरि चलैं सुचि साचनि डुलत हैं।
सुन्दर सुमंद सविनोद देव सामोद
सरोस संचरत हाँसी लाज विलुलत हैं।
हरिन चकोर मीन चंचरीक मैन बान
खंजन कुमुद कंज पुञ्जनि तुलत हैं।
चौंकत चकत उचकत और छकत चलै,
जात कलोलत संकलत मुकुलत हैं।

इसमें 'नेत्रों का सौन्दर्य तथा विनोद, शालीनता, प्रमोद, क्रोध, स्फुरण हास्य एवं लज्जा आदि सभी विकारों का निर्देश कर दिया है। 'मृग के समान चौंकना, चकोर के समान चकित दिखाई पड़ना, मछली के समान उछलना, भ्रमर के समान छककर स्थिर होना, काम बाण के समान चलकर घाव करना' खंजन पक्षी के समान किलोल करना तथा कुमुद कुसुम के समान संकलित होना' आदि कितना सुन्दर है! नेत्रों के सम्बन्ध में देव के कुछ और भी छन्द बड़े मार्मिक हैं, पर स्थानाभाव से यहाँ अधिक देना संभव नहीं।

पुरुषों के लिए स्त्रियाँ तथा स्त्रियों के लिये पुरुष आकर्षण के विषय हैं, यही कारण है कवियों ने स्त्रियों के चित्र अधिक खींचे हैं। विशेषतः रीतिकालीन कवि तो इस ओर और भी झुके हैं। देव में भी यही

बात है। यदि वे चाहते तो विभिन्न देश या जाति के स्त्रियों को चित्रित करने के साथ पुरुषों को भी चित्रित कर दिया होता पर तथ्य यह है कि कुछ थोड़े से कृष्ण चित्रों को छोड़ देव में पुरुष चित्र एक भी नहीं हैं। कृष्ण का एक चित्र है—

पायन नूपुर मंजु बजैं, कटि किंकिनि मैं धुनि की मधुराई।
साँवरे अङ्ग लसै पट पीत, हिये हुलसै बनमाल सुहाई।
माथे किरीट, बड़े दृग चंचल, मंद हँसी मुख-चन्द जुन्हाई।
जै जग-मंदिर-दीपक सुंदर श्री ब्रज-दूलह देव-सहाई॥

यह चित्र भी चित्र के रूप में नहीं खींचा गया है अपितु जैसा कि "श्री ब्रज-दूलह देव सहाई" से स्पष्ट है प्रार्थना का एक अंश है। यों चित्र निर्जीव या असफल नहीं है। कृष्ण का ही एक और चित्र है—

माथे मनोहर मौर लसै पहिरे हिय मैं गहिरे गुँजहारनि।
कुंडल-मंडित गोल कपोल, सुधा सम बोल बिलोल निहारनि।
सोहति त्यों कटि पीत पती, मन मोहनि मन्द महा पग धारनि।
सुन्दर नन्दकुमार के ऊपर वारिए कोटिकु मार कुमारनि॥

यह भी चित्र बुरा नहीं है पर इसमें कोई ऐसी विशेषता नहीं है जो चित्र को स्पष्ट कर सके। इस प्रकार हम देखते हैं 'स्त्रियों के चित्रों की तुलना में देव पुरुष-चित्र में सफल नहीं कहे जा सकते।

प्रकृति, भाव, क्रिया, स्त्री तथा पुरुष चित्र देखने के बाद वैभव का एक चित्र देखकर हम लोग इस प्रकरण को समाप्त करेंगे।

चाँदनी महल बैठी चाँदनी के कौतुक को,
चाँदनी सी राधा छवि चाँदनी विशालरैं।
चंद की कला सी देव दासी सङ्ग फूली फिरै,
फूल से दुकूल पैन्है फूलन की मालरैं।
छुटत फुहारे, वै विमल जल झलकत,
चमकै चँदोवा मनि-मानिक महालरैं।

खींचे जरतारन की, हीरन के हारन की,
जगमगी जोतिन की मोतिन की झालरैं ॥

यह चित्र तत्कालीन राजा-महाराजाओं के वैभव की ओर संकेत करता है।

अन्त में देव की चित्रकारिता और उसके शिल्प के विषय में कहा जा सकता है कि—

१. चित्र सुन्दर और सफल हैं।

२. विशेषतः शब्द-चयन तथा शाब्दिक सामञ्जस्य के कारण चित्रों का आकर्षण और बढ़ गया है।

३. कहीं कहीं रूप और धर्म सम्बन्धी अलङ्कारों ने भी उनकी श्री-वृद्धि की है।

पर साथ ही

१. उनमें परम्परागत चीजें अधिक हैं और नवीनता का अभाव है; तथा

२. सूक्ष्म अध्ययन पर आधारित छोटी-छोटी बातों की ओर ध्यान अधिक नहीं दिया गया है जो चित्रों के लिये परम आवश्यक है।

फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि प्रकृति, के चित्रों में सेनापति, पुरुष-स्त्री चित्रों में सूर, पद्माकर या दास आदि तथा भावों के चित्रों में जायसी, तुलसी तथा सूर आदि यदि देव से आगे हैं तो समवेततः सब चित्रों को एक साथ लेने पर चित्रकारिता में देव निस्संदेह रूप से सबसे आगे हैं।

३, तत्कालीन समाज

साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है। किसी भी देश के किसी भी साहित्य में यह बात देखी जा सकती है। हिंदी के भी किसी भी काल को लें यह बात स्पष्ट हुए बिना न रहेगी। विशेषतः चारण,

भक्ति या आधुनिक काल के साहित्य में तो यह बात और भी स्पष्ट है। रीतिकालीन साहित्य अवश्य जनता से कुछ दूर पड़ गया था, फिर भी उच्चवर्गीय समाज से तो उसका संपर्क था ही। इसी कारण रीतिकालीन साहित्य में उच्च स्तर के ही प्रतिबिम्ब अधिक हैं। रीति ग्रन्थों के उदाहरणों से लेकर अन्य बड़ी से बड़ी और छोटी से छोटी रचनाएँ— प्रायः सभी उच्च स्तर के लोगों के विलासपूर्ण जीवन तथा वैभव से ओत-प्रोत हैं। देव अन्य रीतिकालीन कवियों की अपेक्षा जनता के अधिक निकट तो नहीं कहे जा सकते, पर देशाटन अधिक करने से तथा ठोकर खाते रहने से स्वभावतः उनकी रचनाओं में तत्कालीन समाज चित्रित हो गया है। हाँ, इस चित्र में उच्च स्तर की बातें अधिक तथा साधारण लोगों की प्रायः कम हैं।

कुछ बातें तो सामान्य रूप से ही कही जा सकती हैं जो अन्य रीतिकालीन कवियों में भी मिलती हैं। देव में प्रधानतः शृङ्गार रस मिलता है। यह तत्कालीन विलासी राजा महाराजाओं के जीवन का प्रतिफलन है। तत्कालीन उच्चवर्ग का विलास चौबीसों घंटे और बारहों महीने चलता था। षट्ऋतु वर्णन, बारहमासा तथा अष्टयाम उसी के प्रतिबिम्ब हैं। विभिन्न प्रकार के नायिका भेद राजा महाराजओं के महलों में रहने वाली असंख्य स्त्रियों के चित्र हैं जो महारानी या पट्टमहिषी के अतिरिक्त पत्नियाँ, उपपत्नियाँ, प्रेमिका आदि के रूप में रहती थीं। कुछ बड़े लोग जो उपपत्नियाँ घर नहीं रख पाते थे, दूसरे की पत्नियों से प्रेम-सम्बन्ध रखते थे। यह व्यभिचार उस समय अपने उर्ध्व बिन्दु पर था। देव में भी परकीया के पर्याप्त चित्र हैं जो इनसे भिन्न नहीं हैं। हाँ देव स्वयं इसे बुरा समझते थे इसीलिए इसे बुरा कहा भी है। दूसरों की पत्नियों से सम्बन्धस्थापन या उनसे मिलने में दूतियों की आवश्यकता पड़ती थी और ये दूतियाँ नाइन, मोदियाइन, मालिन तथा धोबिन आदि होती थीं। देव में भी ये सारी बातें इसी प्रकार वर्णित हैं। इस तरह देव का सारा नायक-नायिका भेद तथा दूती आदि का वर्णन उस काल का

सच्चा चित्र है। देव के अश्लील चित्र भी जो आज के कुछ आलोचकों को बुरे लगते हैं, उस काल के जीवन के उन्मुक्त भाग हैं—जिन्हें सुनकर राजा लोग रचियताओं को पुरस्कृत करते थे। जब देश का मस्तिष्क इस प्रकार का था तो जनता में इसका बोलवाला होना सर्वथा स्वभाविक ही है। शृङ्गार तथा प्रेम लीलाओं के अतिरिक्त देव में वैभव-सुसज्जित महल, आभूषणों, वस्त्रों एवं विलास सामग्रियों के भी आकर्षक वर्णन मिलते हैं। ये वर्णन भी राजप्रसादों के प्रतिबिम्ब मात्र हैं—

१. छुटत फुहारे वै बिमल जल झलकत,
चमकै चँदोवा मनि मानिक महालरैं।
बीच जरतारन की हीरन की हारन की,
जगमगी जोतिन की मोतिन की झालरैं।

२. सोने की सरॉग स्याम पेटी ते लपेटी कटि,
पन्ना तें निकसि पुखराज की झपट सी।

३. जगमगी जोतिन जड़ाऊ मनि मोतिन की,
चंद-मुख मंडल पै मंडित किनारी सी।
बेंदी बर बीरन गहीर नग हीरन की,
देव झमकनि में झमक भीर भारी सी।

४. बादले की सारी दरदावन किनारी जग,
मगी जरतारी झीने झालरि के साज पर।
मोती गुहे कोरन चमक चहुँ ओरन ज्यों,
तोरन तरैयन की तानीं द्विजराज पर॥

५. अंबर नील मिली कवरी मुकुता लर दामिनि सी दसहूँ दिसि।
ता मधि माथे में हीरा गुह्यो सुगयो गड़ि केसन की छवि सो लिसि।

इस प्रकार के चित्र रीतिकालीन प्रायः सभी कवियों में देखे जा सकते हैं। तत्कालीन कवि लोग भक्ति काल की भाँति अपने भजन-भाव में लीन न रहकर धनिकों की तलाश में रहते थे; पर धनिकों का कोष भी विलास में खाली हो गया था अतः उन्हें प्रायः निराश होना पड़ता था। बिहारी ने इसी कारण कृष्ण को 'आज कालि के दानि' बनाया था। देव ने भी लिखा है—

आजु लौं हौं कत नरनाहन को नाहीं सुनि,

तत्कालीन राजा लोग देने में कंजूस तो थे ही साथ ही सुन्दर कविता या ईश्वर सम्बन्धी कविता से वे नहीं रीझते थे। वे केवल अपनी प्रशंसा सुननी चाहते थे। इसी कारण प्रत्येक समर्पित ग्रंथ के शुरू में किसी न किसी राजा का देव को स्तवन करना पड़ा है। इसी से परेशान होकर देवशतक में कवि को कहना पड़ा—

'आपनी बड़ाई जाहि भावै सो हमें न भावै,
राम की बड़ाई सुनि देयगो सु देयगो।

देव ने अपने कवि की परिभाषा वाले छंद में जिसे पीछे हम लोग उद्धृत कर चुके हैं, कवि के लिए अकामी, अक्रोधी तथा अलोभी आदि का होना आवश्यक बतलाया है। इसका आशय यह निकलता है उसके काल के कवि प्रायः इसके विपरीत कामी, क्रोधी तथा लोभी होते थे। 'देवमाया प्रपञ्च नाटक' से पता चलता है कि उस काल के समाज मे अधर्म, व्यभिचार, असत्य तथा अनाचार का बोलबाला था। इसके अतिरिक्त सनातन धर्म के बाह्याडंबरों से परेशान होकर कुछ लोग इसक विरोध भी कर रहे थे—

१. मूढ़ कहैं मरिकै फिरि पाइए ह्याँ जु लुटाइए भौन भरे को।
ते खल खोइ खिस्यात खरे अवतार सुन्यो कहुँ छार परे को।
जीवत तौ व्रत भूख सूखौत सरीर महा सुररुख हरे को।
ऐसी असाधु असाधुन की बुधि साधन देत सराध मरे को॥

२. को तप कै सुरराज भयो जमराज को बन्धन कौने खुलायो।
मेरु मही मैं सही करिकै गथ ढेरु कुबेरु को कौने तुलायो।
पाप न पुन्य न नर्क न सर्ग मरो सुमरो फिरि कौने बुलायो।
गूढ़ ही बेद पुराननि बाँचि लबारनि लोग भले भुरकायो॥

सन्तों की पुरानी भावना जिसके अनुसार संसार में सभी एक हैं, भी उस समय ज़ोर पर थी—

हैं उपजे रज-बीज ही ते बिनसे हू सबै छिति छार कै छांड़े।
एक-से देखु कछू न बिसेखु ज्यौं एकै उन्हार कुम्हार के भाँड़े।
तापर ऊँच औ नीच बिचारि वृथा बकिबाद बढ़ावत चाँड़े।
बेदनि मूँदु कियो इन दूँदु कि सूँदु अपावन पावन पाँड़े॥

ये छन्द कबीर तथा प्राचीन जैनों, सिद्धों और नाथों की याद दिला देते हैं।

गोरखनाथ लिखते हैं—

बेदै न शास्त्रे कतेबे न कुराणे पुस्तके न बच्या जाई।
ते पद जाँनाँ बिरल जोगी और दुनी सब धंधै लाई॥

कबीर ने कहा है—

एक बिंदु से सृष्टि रची है को बाम्हन को सुद्रा।

रीतिकाल के भक्त भी यथार्थ भक्ति को भूलकर कथा-वार्ता, तीर्थाटन, सम्प्रदायों की गुटबंदी, पोथी, जटा, मुंडन, टीका, स्नान, मठ, कुण्डल, कमण्डल, माला, दण्ड तथा मन्दिर आदि के बाह्याचारों में ही भूले हुए थे। इसी कारण देव को यथार्थ भक्ति का परिचय देते हुए लिखना पड़ा—

कथा में न कंथा मैं न तीरथ के पंथा मैं न,
पोथी मैं न पाथ मैं, न साथ की बसीति मैं।
जटा में न मुण्डन मैं न, तिलक त्रिपुण्डन न,
नदी-कूप-कुण्डन अन्हान दान-रीति मैं।

पैठ-मठ-मंडल न कुंडल कमंडल न,
माला-दंड मैं न, देव देहरे की भीति मैं।
आपु ही अपार पारावार प्रभु पूरि रह्यो,
पाइए प्रगट परमेसुर प्रतीति मैं॥

तत्कालीन उच्चवर्गीय तथा मध्यवर्गीय लोग अपने नौकरों से मशीन की तरह काम लेना चाहते थे। उन पर ही व्यंग्य करते हुए देव लिखते हैं—

पावक में वसि आँच लगै न, बिना छुत खाँड़े कि धार पै धावै।
मीत सों भीत अभीत अमीत सां दुक्ख सुखी, सुख मैं दुख पावै।
जोगी ह्वै आठ हू जाम जगै अठजामिनि कामिनि सौं मनु लावै।
आगिलो पाछिलो सोचि सबै फल कृत्य करे तब भृत्य कहावै॥

यह देव के काव्य में प्रतिबिंबित समाज का संक्षिप्त परिचय है। हिंदी कवियों की रचनाओं के आधार पर उत्तरी भारत की सामाजिक दशा का यदि अध्ययन किया जाय तो काफ़ी नवीन सामग्री प्रकाश में आ सकती है। दुःख है कि इस प्रकार के अध्ययन की ओर अभी तक लोगों का ध्यान कम गया है। स्वयं देव में भी यदि अच्छी तरह देखा जाय तो और भी बहुत सी बातें मिल सकती हैं। इस संक्षिप्त पुस्तिका की सीमा से उस विस्तार को बाहर समझ हम इस संक्षिप्त परिचय से ही संतोष करते हैं।

(आ) कला

किसी कवि की कला के अन्तर्गत उसके अभिव्यंजना के उपकरणों तथा प्रसाधनों पर विचार किया जाता है। देव की कला पर हम निम्न उपशीर्षकों में विचार कर सकते हैं—

क. भाषा
ख. अलङ्कार
ग. उक्ति वैचित्र्य

घ. गुण

ङ. दोष

च. छन्द

अब इन्हें पृथक्-पृथक् लीजिए।

क. भाषा

रीतिकाल में कुछ थोड़े से कवियों को छोड़कर सभी ने ब्रजभाषा को ही साहित्य-साधना के लिए अपनाया था। देव भी अपवाद नहीं थे। पर, अन्य कवियों की भाँति इनकी भाषा में भी कुछ और प्रादेशिक भाषाओं का प्रभाव मिलता है, जैसा कि हम लोग आगे देखेंगे। देव की भाषा को निम्न उपशीर्षकों में देखा जा सकता है—

१. व्याकरण

२. शब्द समूह

३. मुहावरे

४. लोकोक्तियाँ

१. व्याकरण

देव कवि होने के साथ आचार्य भी थे। अतः यह कहना तो पूर्णतया अन्यायसंगत होगा कि वे तत्कालीन व्याकरण सम्मत ब्रजभाषा से अपरिचित थे, पर साथ ही उनकी रचनाओं की ओर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने व्याकरण की अनेक ग़लतियाँ की हैं। शब्दों की तोड़-मरोड़ तथा अप्रचलित अर्थ में शब्द प्रयोग आदि अशुद्धियों की भाँति ये अशुद्धियाँ भी अनुप्रास या तुक आदि के लिए जानकर की गई हैं, क्योंकि यदि अज्ञानवश ये अशुद्धियाँ हुई होतीं तो उनकी भाषा में सर्वत्र मिलतीं पर यथार्थता यह है कि जहाँ तुक, लय, गति तथा अनुप्रास आदि का आग्रह नहीं है ये ग़लतियाँ दिखाई ही नहीं देतीं।

देव के व्याकरण सम्बन्धी दोषों को कारक चिह्न, लिंग, वचन, तथा क्रिया आदि शीर्षकों में लिया जा सकता है।

कारक चिह्न

देव में कारक चिह्न सम्बन्धी अशुद्धियाँ अपनी चरम सीमा पर हैं। इसके भी दो वर्ग बनाए जा सकते हैं। कहीं तो देव ने कारक चिह्नों को बिलकुल छोड़ दिया है। विशेषत: 'ने' का प्रयोग तो खोजने पर ही कहीं सम्भव है। यद्यपि 'ने' का ब्रजभाषा में प्रयोग होता है और जैसा कि नगेन्द्र जी ने उद्धृत कर दिखाया है, उपलब्ध गद्य में यह प्रयुक्त है—

अब जो यह बात श्री गुसाईं जी ने कही

देव के 'ने' छोड़ देने के प्रयोग लीजिए—

बाँह गही ललचाइ लला मुख नाहीं कही मुसकाइ किसोरी।

यहाँ 'बाँह गही ललचाई लला ने' तथा 'मुख नाहीं कही मुसकाइ किसोरी ने' दो 'ने' प्रयुक्त होने चाहिए। कुछ और उदाहरण लीजिए—

१. भोगीलाल भूप लाख पाखर लिवैया जिहि,
लाखन खरच रचि आखर खरीदे हैं।

२. कान्ह कीलि-कीलि ग्वालिनी सी ग्वालिनी बुलाई है।

इसी प्रकार कर्म, सम्बन्ध, अधिकरण, अपादान आदि अन्य विभक्तियों को भी देव ने कहीं-कहीं छोड़ दिये हैं। अधिकरण का एक उदाहरण लीजिए—

पगी पिय प्रेम जगी चहुँ जाम, रँगी रति रङ्ग भयो परभात।

यहाँ 'पगी पिय प्रेम' तथा 'रँगी रति रङ्ग' दोनों में अधिकरण का चिह्न 'में' चाहिए।

इस प्रकार कारक चिह्नों को उड़ा देने की प्रवृत्ति ब्रजभाषा के ही नहीं प्रायः सभी कवियों में मिलती है। कभी-कभी छंद बैठाने के लिए तथा कसाव के लिए यह आवश्यक भी हो जाता है, फिर भी अशुद्धि तो यह मानी ही जायगी।

कारक चिह्न विषय की दूसरी अशुद्धि एक कारक स्थल पर दूसरे का चिह्न लगा देने की है। इस प्रकार की पंक्तियाँ प्रथम की भाँति अधिक नहीं मिलती। उदाहरण के लिए एक देखिए—

तिहारी सी प्रीति निहारी न मेरे।

इसे यथार्थतः तिहारी सी प्रीति तिहारी न 'मैंने' होना चाहिए पर, क के लिए 'मेरे' कर दिया है। 'मैंने' कर्ता कारक है पर उसके स्थान र 'मेरे' सम्बन्ध कारक प्रयुक्त हुआ है।

लिंग

देव में लिंग दोष तो प्रायः भरे पड़े हैं। यहाँ नमूने के लिए कुछ खे जा सकते हैं—

१. रङ्गित भीतिन भीति लगै लखि रङ्गमही रनरङ्ग ढरे-से। ढरी सी)

२. उचकै कुचकंद कदंबकली सी। (सो)

३. मोहि मोहि मोहन को मन भयो राधामय
राधा मन मोहि मोहि मोहनमई भई। (भयो)

४. सुंदर वदन चंद्रिका सी चारु चीर है। (सो)

तीसरे उदाहरण में पूर्वार्द्ध में तो देव ने 'मन भयो' रक्खा है पर उत्तरार्द्ध में 'भई' रक्खा है। स्पष्ट है देव ने यह अशुद्धि अज्ञानतः न करके तुक के लिये जानकर की है। वे मन को पुलिंग जानते हैं तथा उसके अनुकूल क्रिया का पुलिंग होना भी जानते हैं। लिंग सम्बन्धी गलतियाँ सम्बन्धकारक के चिह्नों में भी हुई हैं। जैसे को के स्थान पर की तथा की के स्थान पर को। एक उदाहरण लीजिए—

अरचा है चितचारी को।

'अरचा' स्त्रीलिंग है अतः चितचारी 'की' होना चाहिये था पर वही तुक के लिये 'की' को देव ने 'को' कर दिया है।

वचन

वचन सम्बन्धी स्खलन भी देव में मिलता है। इसमें प्रायः बहुवचन शब्दों का एकवचन प्रयोग मिलता है।

नैनन ते सुख के अँसुवा मनौं भौंर सरोजन ते सरक्यो परै।

कमल से भौंर सरके पड़ते हैं। यहाँ परै के स्थान पर परैं होना

चाहिये, पर लरक्यो परै, फरक्यो परै आदि से तुक मिलाने के लिये कवि को यह वचन स्खलन लाना पड़ा है।

दो और उदाहरण देखे जा सकते हैं।

१. देव दुखमोचन सलोनी मृगलोचनि

तो देखि देखो लोचन लला के ललचात है। (हैं)

२. पायनि के चित चायन को बल लीलत लोग

अथायनि बैठ्यो। (बैठे)

क्रिया

कविता में छंदबंधन तथा कसाव या समास शक्ति बढ़ाने के लिए क्रिया के प्रायः कुछ अंश छोड़ देने पड़ते हैं। खड़ी बोली कविता में 'है' इसी कारण कम मिलता है। ब्रज में यह 'है' कभी-कभी ऐ होकर क्रिया में मिल जाता है और कभी कभी लुप्त हो जाता है। साथ ही कहीं-कहीं प्रयुक्त भी होता है। देव में ये तीनों रूप मिलते हैं—

है का ऐ—काहे को मेरोकहावतु मेरो तुपै मन मेरो न मेरो कह्यौ करै।

है का लोप—सोहै धाम स्याम मग हेरति हथेरी ओट,

ऊँचे धामवाम चढ़ि आवत उतरि जाति।

है का प्रयोग—धोबिनि अनोखी यह धोवति कहाधौं करि,

सूधौ मुखराखति न ऊधम करति है।

कहीं वर्तमान और भूत के मिश्रित रूप भी मिलते हैं। देव की क्रियाओं में सबसे अधिक गड़बड़ी भविष्यत् के सम्बन्ध में है। ब्रज में गो-गे, हौं-हैं लगाकर भविष्यत् के रूप बनते हैं। देव में ये दोनों रूप तो हैं ही—

१. या लरिकाहि कहा करिहै,

२. दाम खरे दै खरीदु खरो गुरु, मोह की गोनी न फेरि बिकैहै।

३. तो चितै सकोचि सोचि मोचि मृदु मूरछि कै,

छोर ते छपाकरु छता-सो छूटि परैगो।

एक तीसरा रूप बुँदेली का भी मिलता है जिसमें 'बी' आदि जोड़ते हैं। इस दृष्टि से मारिबी, जारिबी, डारिबी तथा कारिबी आदि के प्रयोग

द्रष्टव्य हैं। इस प्रकार के प्रयोग सूर, तुलसी, बिहारी तथा दास में भी मिलते हैं। केशव और भूषण में तो ये प्रयोग और भी अधिक हैं।

बन बौरत बौरी ह्वै जाउगी 'देव' सुने धुनि कोकिल की डरिबी।
जब डोलिहैं औरै अबीर भरी सुहहा कहि बीर कहा करिबी॥

देव की व्याकरण सम्बन्धी अन्य गड़बड़ियों में वाक्य में शब्द क्रम की गड़बड़ी, प्रधानतः ब्रज होते हुए भी अवधी, राजस्थानी बुंदेली तथा खड़ी बोली के रूपों के मिश्रण की गड़बड़ आदि है।

निष्कर्पस्वरूप कहा जा सकता है कि इनकी भाषा यों तो पर्याप्त 'पालिश्ड' और संस्कृत है पर उसे घनानंद की भाषा का स्थान नहीं दिया जा सकता। व्याकरण की दृष्टि से इनमें त्रुटियाँ बहुत हैं; पर केशव जैसे आचार्य में यह दोष तो इनसे भी अधिक है। ऐसी दशा में भाषा की दृष्टि से देव मध्यम श्रेणी के हैं। यदि बहुत से अच्छे कवि इनसे ऊपर हैं तो बहुत से इससे नीचे भी हैं।

२. शब्द समूह

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, देव की भाषा ब्रजभाषा है। ब्रजभाषा के भी दो स्वरूप हो सकते हैं। एक तो बोल-चाल का और दूसरा साहित्यिक। यदि अवधी में इस चीज़ को समझना चाहें तो जायसी की भाषा बोल-चाल की अवधी है तथा तुलसी की साहित्यिक। तुलसी की ही भाँति देव की भाषा भी बोल-चाल की न होकर साहित्यिक है। पर, साथ ही तुलसी और देव की भाषा में एक अंतर भी है। तुलसी की साहित्यिक अवधी प्रधानतः साहित्यिक इसलिए है कि उसमें संस्कृत के शब्द (विशेपतः हिंदू संस्कृति सम्बन्धी) अधिक हैं पर देव की ब्रजभाषा की साहित्यिकता संस्कृत शब्दों की बहुलता पर न आधारित होकर भाषा की कांति (Polish) पर आधारित है। इस कांति का प्रधान कारण उनका सुन्दर शब्द-चयन है।

देव के शब्द-समूह का एक बड़ा भाग तो तत्कालीन हिंदी का काव्य-प्रचलित शब्द-समूह है जिसमें बहुत थोड़े तत्सम, अर्द्धतत्सम, थोड़े

चाहिये, पर लरक्यो परै, फरक्यो परै आदि से तुक मिलाने के लिये कवि को यह वचन स्खलन लाना पड़ा है।

दो और उदाहरण देखे जा सकते हैं।

१. देव दुखमोचन सलोनी मृगलोचनि
तो देखि देखो लोचन लला के ललचात है। (हैं)

२. पायनि के चित चायन को वल लीलत लोग
अथायनि वैठ्यो। (वैठे)

क्रिया

कविता में छंदबंधन तथा कसाव या समास शक्ति बढ़ाने के लिए क्रिया के प्रायः कुछ अंश छोड़ देने पड़ते हैं। खड़ी बोली कविता में 'है' इसी कारण कम मिलता है। ब्रज में यह 'है' कभी-कभी ऐ होकर क्रिया में मिल जाता है और कभी कभी लुप्त हो जाता है। साथ ही कहीं-कहीं प्रयुक्त भी होता है। देव में ये तीनों रूप मिलते हैं—

है का ऐ—काहे को मेरोकहावतु मेरो तुपै मन मेरो न मेरो कह्यौ करै।

है का लोप—सोहै धाम स्याम मग हेरति हथेरी ओट,
ऊँचे धामवाम चढ़ि आवत उतरि जाति।

है का प्रयोग—धोविनि अनोखी यह धोवति कहाधौं करि,
सूधौ मुखराखति न ऊधम करति है।

कहीं वर्तमान और भूत के मिश्रित रूप भी मिलते हैं। देव की क्रियाओं में सबसे अधिक गड़बड़ी भविष्यत् के सम्बन्ध में है। ब्रज में गो-गे, हौं-हैं लगाकर भविष्यत् के रूप बनते हैं। देव में ये दोनों रूप तो हैं ही—

१. या लरिकाहि कहा करिहै,

२. दाम खरे दै खरीदु खरो गुरु, मोह की गोनी न फेरि बिकैहै।

३. तो चितै सकोचि सोचि मोचि मृदु मूरछि कै,
छोर ते छपाकर छता-सो छूटि परैगो।

एक तीसरा रूप बुँदेली का भी मिलता है जिसमें 'वी' आदि जोड़ते हैं। इस दृष्टि से मारिवी, जारिवी, डारिवी तथा कारिवी आदि के प्रयोग

द्रष्टव्य हैं। इस प्रकार के प्रयोग सूर, तुलसी, बिहारी तथा दास में भी मिलते हैं। केशव और भूषण में तो ये प्रयोग और भी अधिक हैं।

बन बौरत बौरी ह्वै जाउगी 'देव' सुने धुनि कोकिल की डरिबी।
जब डोलिहैं औरे अबीर भरी सुदहा कहि बीर कहा करिबी॥

देव की व्याकरण सम्बन्धी अन्य गड़बड़ियों में वाक्य में शब्द क्रम की गड़बड़ी, प्रधानतः ब्रज होते हुए भी अवधी, राजस्थानी बुँदेली तथा खड़ी बोली के रूपों के मिश्रण की गड़बड़ आदि है।

निष्कर्षस्वरूप कहा जा सकता है कि इनकी भाषा यों तो पर्याप्त 'पालिश्ड' और संस्कृत है पर उसे घनानंद की भाषा का स्थान नहीं दिया जा सकता। व्याकरण की दृष्टि से इनमें त्रुटियाँ बहुत हैं; पर केशव जैसे आचार्य में यह दोष तो इनसे भी अधिक है। ऐसी दशा में भाषा की दृष्टि से देव मध्यम श्रेणी के हैं। यदि बहुत से अच्छे कवि इनसे ऊपर हैं तो बहुत से इससे नीचे भी हैं।

२. शब्द समूह

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, देव की भाषा ब्रजभाषा है। ब्रज-भाषा के भी दो स्वरूप हो सकते हैं। एक तो बोल-चाल का और दूसरा साहित्यिक। यदि अवधी में इस चीज़ को समझना चाहें तो जायसी की भाषा बोल-चाल की अवधी है तथा तुलसी की साहित्यिक। तुलसी की ही भाँति देव की भाषा भी बोल-चाल की न होकर साहित्यिक है। पर, साथ ही तुलसी और देव की भाषा में एक अंतर भी है। तुलसी की साहित्यिक अवधी प्रधानतः साहित्यिक इसलिए है कि उसमें संस्कृत के शब्द (विशेषतः हिंदू संस्कृति सम्बन्धी) अधिक हैं पर देव की ब्रज-भाषा की साहित्यिकता संस्कृत शब्दों की बहुलता पर न आधारित होकर भाषा की कांति (Polish) पर आधारित है। इस कांति का प्रधान कारण उनका सुन्दर शब्द-चयन है।

देव के शब्द-समूह का एक बड़ा भाग तो तत्कालीन हिंदी का काव्य-प्रचलित शब्द-समूह है जिसमें बहुत थोड़े तत्सम, अर्द्धतत्सम, थोड़े

अरब, फारसी, तुर्की एवं देशज़ शब्द हैं और एक बड़ी संख्या तद्भव शब्दों की है। इसके अतिरिक्त उनके शब्द-समूह का एक अत्यल्प भाग ऐसा भी है जिसमें उनके स्वनिर्मित शब्द तथा संस्कृत, प्राकृत, अरबी, फारसी, तुर्की आदि से उधार लिए अप्रचलित शब्द हैं। इस प्रकार शब्द समूह को संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश, देशज, तद्भव और अर्द्ध-तद्भव, अरबी, फारसी, तुर्की, तोड़े-मरोड़े तथा स्वनिर्मित—इतने वर्गों में रक्खा जा सकता है।

संस्कृत

देव में संस्कृत शब्दों का प्रयोग तुलसी तथा केशव आदि से कम है पर बिहारी, मतिराम, पद्माकर तथा भूषण आदि की अपेक्षा अधिक है। अन्य ब्रजभाषा के कवियों की भाँति उनके भी संस्कृत शब्द समूह का एक बड़ा भाग ब्रजभाषा की प्रकृति के अनुसार कोमल हो गया है, अतः उसे अर्द्धतत्सम या तद्भव कहना अधिक ठीक होगा। उस पर आगे हम-लोग विचार करेंगे। देव में प्रयुक्त शुद्ध संस्कृत शब्द तीन वर्गों में रक्खे जा सकते हैं। कुछ तो ऐसे हैं जो अत्यन्त प्रचलित हैं और अपनी भाषा में इतने घुले मिले हैं कि साधारणतया लोग यह ध्यान भी नहीं देते कि वे संस्कृत शब्द हैं। उदाहरणार्थ रङ्ग, मंडल, मंदिर, सिद्धि, सेवक, अधिक, देव, मधुर, अङ्ग, रूप, रस, खंड, कलंक, धन्य, सुगंध, चंदन, चकोर, प्रेम, कवि, सङ्ग, संगति, मन, उपहास, कुलीन तथा कुल आदि। दूसरे वर्ग में वे संस्कृत शब्द आते हैं जो सामान्य भाषा में प्रचलित तो नहीं हैं, पर साहित्य में उनका प्रयोग होता है। उदाहरणार्थ उरोज, अखंड, अमंद, पारावार, पारद, पट, कानन, प्रभा, सुता, आनन, सागर, सुधा, सिंधु, विधु, मराल, सरसिज, छवि, आभा, कुंद, उदधि, दधि, चंद्रिका, पंकज, अधर, इंदु, तिमिर, इंदिरा, पियूप तथा दामिनी आदि। तीसरा वर्ग उन संस्कृत शब्दों का है जो बिल्कुल अप्रचलित हैं और उनके लिए साधारण पाठक को कोष का सहारा लेना पड़ता है। उदाहरणार्थ संभारछल, स्फुरद्रूप, चामीकर, पुलोमजा, नीरज, शंबरारि,

गजनात्तोद्दिणी, कैतव, सरीसृप, अनध्यास, रथांक. छंद (मनोरंजन) इम, तथा वृन्दारक आदि ।

प्राकृत तथा अपभ्रंश

देव में प्राकृत तथा अपभ्रंश के भी शब्द हैं पर उनमें से अधिक आज इसलिये नहीं पहचाने जा सकते कि बहुत से शब्द हिंदी में प्रयुक्त होने के कारण हिंदी के लगते हैं। फिर भी कुछ शब्द तो स्पष्ट हैं। उदाहरणार्थ लोइन.या लोयन (लोचन), अयान (अज्ञान), नाह (नाथ), लोह (लोभ), विज्जु (विद्युत), मयमंत (मदमत्त), कोइल (कोकिल) तथा जूह (यूथ) आदि।

तद्भव तथा देशज

तद्भव तथा देशज शब्द, जैसा कि स्वाभाविक है अन्य शब्दों की अपेक्षा देव में अधिक हैं। बहुत से संस्कृत शब्दों को उन्होंने ब्रजभाषा की प्रकृति के अनुकूल अर्द्ध तद्भव कर लिया है जैसे विस्फूर्ति से बिसफूरति, दीप्ति से दीपति तथा विशिख से बिसिख आदि। इसी प्रकार शब्दों में कोमलता लाने के लिए देव ने

श से स
ष से ख या स
ण से न
च से व
क्ष से च्छ या छ

तथा आधे अक्षरों से पूरे अक्षर (जैसे विस्फूर्ति से बिसफूरति) आदि कर लिए हैं।

फ़ारसी[1]

देव में प्रयुक्त विदेशी शब्दों में पहले फ़ारसी शब्दों को लीजिए।

[1] डा० नगेन्द्र ने विदेशी शब्दों की सूची में 'कलेजा' 'मखतूल' और 'किर्च' भी दिया है पर तीनों में एक भी विदेशी नहीं है। ऐसे हिन्दी में बहुत से शब्द हैं जो देखने में विदेशी लगते हैं पर यथार्थतः हैं देशी।

इनके फारसी शब्द दो वर्गों में रक्खे जा सकते हैं। कुछ शब्द तो ऐसे हैं जो आमफ़हम हैं और व्रजभाषा के शब्द समूह में घर कर गए हैं। साधारणतः न जाननेवाले को यह ज्ञात भी नहीं होता कि वे फारसी के हैं। उदाहरणार्थ गुलाब, कमान, तीर, दम, बर्फ, जोर, शिकार, फ़रेब (फ़िरेब) तथा नाज़ आदि। दूसरा वर्ग ऐसे शब्दों का है जो कठिन और अप्रचलित हैं। इस वर्ग में अधिक शब्द नहीं। उदाहरण के लिए आहन (लोहा) शब्द लिया जा सकता है।

अरबी

देव में अरबी शब्दों की संख्या फ़ारसी से अधिक है। फ़ारसी की भाँति अरबी शब्दों के भी दो वर्ग बनाए जा सकते हैं। कुछ शब्द तो प्रचलित हैं जैसे महल, मख़मल, कलम, जहाज, सही (सहीह), शरबत, ग़रीब, फर्श, हद (हद्द), मसूस (महसूस) तमाशा, जमा तथा वसूल आदि। कुछ शब्द अप्रचलित तथा कठिन हैं। उदाहरणार्थ खवासी (राजाओं या रईसों का नौकर) फ़रागत (छुटकारा, बेफ़िक्री) तथा गनीम (शत्रु) आदि।

तुर्की

तुर्की शब्दों की संख्या बहुत कम है। इन्हें भी प्रचलित और अप्रचलित दो वर्गों में रक्खा जा सकता है। प्रचलित शब्दों में कैंची तथा अप्रचलित में कजाक (कज़्ज़ाक = लुटेरा) उदाहरण के लिये देखे जा सकते हैं।

स्वनिर्मित शब्द

देव ने अनुप्रास तथा तुर्क आदि के मोह से बहुत से शब्द गढ़ भी लिये हैं। जैसे बंशीवारौ के तुक के लिये धनसीवारौ, तनसीवारौ धुरवानि के तुक के लिये गुरवानि, मोरवानि, सहचर के तुक के लिये रहचर, महचर चहचर तथा लाड़िली के तुक के लिए चाड़िली, आड़िली आदि। यदि इसकी पूरी सूची बनाई जाय तो इस प्रकार के बहुत से शब्द प्रकाश में आ सकते हैं।

तोड़े-मरोड़े शब्द

इस सम्बन्ध में कुछ लोग कहते हैं कि देव में तोड़-मरोड़ अधिक नहीं है, पर दूसरी ओर कुछ लोगों का कहना है कि इनमें तोड़-मरोड़ बहुत अधिक हैं। यदि एक ओर मिश्रबंधु आदि हैं तो दूसरी ओर दीन आदि। इस सम्बन्ध में श्यामसुन्दरदास लिखते हैं—'भाषा को अलंकार समन्वित करने और शब्दों को तोड़ने मरोड़ने की जो सामान्य प्रवृत्ति, काल दोष बनकर ब्रजभाषा में व्याप्त हो रही थी, उससे देव भी नहीं बच सके हैं।' सत्य यह है कि देव ने तोड़-मरोड़ की तो अवश्य है पर भूषण आदि की भाँति अधिक नहीं। इनकी तोड़-मरोड़ दो वर्गों में बाँटी जा सकती है। प्रथम वर्ग की तोड़-मरोड़ तो साधारण है और पहचानी जा सकती है; जैसे सैन से सैनियाँ, पैनी से पैनियाँ, लंकिनी से लंकनि, कुलटी से कुलटाहि, हेमन्त का हैउँत, नितही से नितई तथा तुला से तुलही आदि। दूसरे वर्ग में वे तोड़े-मरोड़े शब्द हैं जो जल्द पहचाने ही नहीं जाते; उदाहरणार्थ ईछी (इच्छा) हिरन (हिरण्य), छियत (छुवत) व्योह (व्यामोह) लपनै (जल्पनै) अभै (अभी) अभिख्या (अभिलषिणी) विद्योत (विदित) भेरतीं (भिड़तीं) सचीं (संचित) तची (तपी) तथा दंदरा (द्वन्द्व) आदि।

अप्रचलित तथा अगम्य शब्द

देव की कविता में दोष रूप में दो और प्रकार के भी शब्द मिलते हैं। कुछ तो ऐसे हैं जो प्रचलित हैं किसी अर्थ में और देव में किसी और अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। यद्यपि यह अर्थ भी उनका है पर अत्यन्त अप्रचलन के कारण वे जल्द स्पष्ट नहीं होते और इस प्रकार रस निष्पत्ति में बाधक होते हैं। उदाहरणार्थ कुछ शब्द लीजिए—

शब्द	प्रचलित अर्थ	देवद्वारा गृहीत अर्थ
मारू	मारने वाली, लड़ाकी	धँसनेवाली
वंदन	वंदना	इंगुर

चाह	आदत, चाह	वशीकरण
पाखर	गाड़ी का टाट	पारखी
भोग	भोजन, खाद्य	फण
बाद	विवाद, बहस	संभाषण
विधुर	जिसकी स्त्री मर गई हो, दुखी	काँपता हुआ
षट	छः	खाट
ऊखली	ओखली	फैली
लंगर	नाव का लंगर	नायक के लिये सम्बोधन
कुंकुम	एक रंग जिसे होली आदि में लगाते हैं	गोला

देव में कुछ शब्द ऐसे भी हैं जिनका अर्थ अस्पष्ट है। म्वै, काहल, तरावक, धील, दुहुव, तीभ तथा सीजी आदि उदाहरणार्थ लिए जा सकते हैं।

३. मुहावरा

मुहावरों के प्रयोग से भाषा की अभिव्यंजना शक्ति बढ़ जाती है। हिन्दी के आधुनिक कवियों में तो मुहावरों का प्रयोग प्रायः नहीं के बराबर मिलता है पर प्राचीन कवियों ने इसके खूब प्रयोग किए हैं। देव में भी इसकी अच्छी छटा है। कुछ उदाहरण लीजिए—

१. दूलह को देखत हिए में हूल फूल ह्वै,
बनावति दुकूल फूल फूलनि बसति है।

२. जोबन ऐंठ में पैठत ही मन-मानिक गाँठि ते ऐंठि लियो है।

३. साँवरे लाल को साँवरो रूप मैं नैननि को कजरा करि राख्यों।

४. फिरि भेंटि भट्ट भरि अंक निसंक बड़े छिन लौं उर लाइए तौ।

५. नाखिन टरत टारे आँखि न लगत पल,
आँखिन लगे री स्याम सुन्दर सलोनें से।

६. चाह भई फिरौं या चित मेरे की छाँह भई फिरौं नाह के पीछे।
७. काम की ओर सकोरति नाक न लागत नाक को नायक नीको।
८. खेलिबोऊ हँसिबोऊ कहा सुख सो बसिबो बिसे बीस बिसारो।
९. बातें बनाय सुनावै सखी सब तातें औ सीरी रसौंहैं रिसौंहैं।
१०. काहू कही हरि राधा यही, दुरि 'देव' जी देखी इतै मुख फेरत।
११. गई दोहती दधि बेचन बीर गयो हियरा हरि हाथ बिकाई।
१२. प्यारी के प्रान समेत पियो परदेस पयान की बात चलावै।
१३. आँखिनि आरसि की मुदरी लगी कानन में लगी कान्ह कहानी।

इन उदाहरणों की संख्या कई सौ तक की जा सकती है। मुहावरों के प्रयोग के सम्बन्ध में हिन्दी में एक विचित्रता यह पाई जाती है कि प्रायः लोग मुहावरा में शब्दों के पर्याय रख देते हैं। इससे मुहावरे का सौन्दर्य समाप्त हो जाता है। उदाहरणार्थ ऊपर के ५वें मुहावरे में आँखि न लगत के स्थान पर यदि नैन न लगत होता तो मुहावरे का सौंदर्य समाप्त हो जाता। देव में इस प्रकार के प्रयास प्रायः नहीं के बराबर है। यहाँ एक और बात की ओर भी संकेत कर देना आवश्यक है। मुहावरों का उचित सौन्दर्य तभी दृष्टिगत हो सकता है जब भाषा में व्यर्थ के संस्कृत शब्द न ठूसे गए हों। गोस्वामी तुलसीदास के विनय पत्रिका के स्तोत्रों में मुहावरों के यदि प्रयोग हों भी तो उनका होना न होना बराबर होगा। बल्कि वे सौन्दर्य को बढ़ाने की अपेक्षा और घटा देंगे। सौभाग्य से देव की भाषा संस्कृत मिश्रित न होकर चलती है और मुहावरों के प्रयोग के सर्वथा उपयुक्त है। इस कारण इनमें मुहावरों का प्रयोग भाषा की भी श्री वृद्धि में पर्याप्त सहायक हुआ है।

मुहावरों के प्रयोग दो प्रकार होते हैं। एक प्रयोग तो ऐसा होता है जिसमें मुहावरे भाषा में प्रयुक्त होते हुए भी चमत्कार रूप में अलग रहते हैं और वाक्य पर दृष्टि दौड़ाते ही स्पष्ट हो जाते हैं। दूसरी ओर एक प्रयोग ऐसा होता है जिसमें मुहावरे भाषा में इस प्रकार घुल-मिल जाते हैं कि जल्द ज्ञात नहीं होते और उन्हें पहचानने के लिए काफ़ी

एक अलंकारों को लिया गया हो। इससे लाभ यह होगा कि अलंकारों के नामों या संख्या की ओर न जाकर यह कहा जा सकेगा कि अमुक कवि ने अलंकार के इतने वर्गों में इतने का प्रयोग किया है। इससे यह भी पता चल सकेगा कि किस वर्ग के अलङ्कार किस कवि को प्रिय हैं। इस आधार पर कवि विशेष का मनोवैज्ञानिक अध्ययन भी सम्भव हो सकेगा।

इस संदर्भ में एक अवांतर विषय की ओर भी ध्यान दिया जा सकता है। हमारे यहाँ अलङ्कारों के वर्गीकरण की समस्या अभी तक अंतिम रूप नहीं पा सकी है। भारतीय साहित्य में अलङ्कारों के वर्गीकरण की ओर सर्वप्रथम अग्निपुराण के अज्ञातनामा रचयिता (जिसे प्रमादवश वेदव्यास कहने की परंपरा चल पड़ी है) का ध्यान गया था और उन्होंने अलङ्कारों के शब्द, अर्थ और उभय (शब्दार्थ) तीन वर्ग बनाए। कहना न होगा कि यह वर्गीकरण गम्भीरता नहीं रखता। इस ओर ध्यान देनेवाले दूसरे आचार्य रुद्रट हैं। इन्होंने वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष के आधार पर चार वर्ग बनाए हैं। अलङ्कारों का यही प्रथम वैज्ञानिक वर्गीकरण है। इसके बाद रुय्यक ने सात वर्ग किये। हिंदी के आचार्यों में केशव ने प्रयास किया पर सफल नहीं हो सके। हाँ, दास ने इस ओर श्लाघ्य प्रयास किया और पाणिनि के अष्टाध्यायी के ढर्रे पर '.....आदि गणी' नाम से ११ वर्ग किए। आधुनिक विद्वानों में सुब्रह्मण्य शर्मा ने अलङ्कारों के ८ वर्ग, तथा ब्रजरत्नदास ने ६ वर्ग बनाए हैं। कुछ अन्य विद्वानों ने भी प्रयास किये हैं पर पूर्ण वैज्ञानिक और मान्य वर्गीकरण आज तक सामने नहीं आया। अतः ऐसी परिस्थिति में ऊपर जिस प्रकार के विवेचन की ओर इन पंक्तियों के लेखक ने संकेत किया है, सम्भव नहीं।

किसी कवि के अलङ्कार विवेचन की दूसरी पद्धति भारतीय और पाश्चात्य अलङ्कारों की मिश्रित पद्धति है। डा० नगेन्द्र ने 'सुमित्रानंदन पंत', 'साकेत एक अध्ययन' तथा 'देव और उनकी कविता' में इसी पद्धति

विलास या शब्दरसायन जैसे रीति ग्रन्थ लिखे। इन ग्रन्थों में लक्षण तो उन्होंने अपने ज्ञानानुसार रक्खे पर उदाहरण के लिए कविता करना उनके लिए असम्भव था, फलतः अपनी कविताओं से चुनकर जिस अलङ्कार का जिस छन्द में प्राधान्य था उसे उसका उदाहरण मान गठबंधन कर दिया। इसी कारण उनके उदाहरण अलङ्कार शास्त्र के विद्यार्थी के लिए सुबोध नहीं ज्ञात होते, तथा आचार्यों की दृष्टि में अशुद्ध भी लगते हैं। यथार्थतः वे काव्य खंड हैं, शास्त्रीय ग्रन्थ के उदाहरण नहीं हैं। कहने का आशय यह है कि 'आचार्य देव के अलङ्कार निरूपण' पर विचार करने की अपेक्षा 'कवि देव के अलंकरण विधान' पर विचार करना देव की प्रकृति को देखते हुए अधिक न्याय्य होगा। साथ ही इससे यह भी आशय निकलता है कि उनके रीति ग्रन्थों के उदाहरणों को रीति के उदाहरण मानकर छोड़ देना उचित न होगा अपितु उन्हें देव की कविता मानकर इस पियक की परीक्षा का आधार मानना होगा।

अलङ्कारों पर विचार करने के प्रायः दो ढङ्ग प्रचलित हैं। अधिक लोग किसी कवि के अलङ्कार पर विचार करते समय उसकी कविता से हिन्दी (यथार्थतः संस्कृत) के प्रचलित शब्दालङ्कारों, अर्थालङ्कारों तथा उभयालङ्कारों में अधिक प्रसिद्ध अलङ्कारों के उदाहरण चुन लेते हैं और उन्हें उद्धृत करते हुए उनका विनेचन कर देते हैं और अंत में कौन-कौन से अलङ्कार या कितने अलङ्कार की गणना करते हुए निष्कर्ष निकाल देते हैं। यह प्राचीन शैली है। अधिक आलोचना ग्रंथों में इसी शैली का सहारा लिया गया है। इस शैली में वैज्ञानिकता नहीं है। एक चावल देखकर पूरी खिचड़ी पहिचानी जाती है, पर खिचड़ी देखकर तरकारी नहीं पहिचानी जा सकती। यदि अलंकार को भोजन मानें तो विभिन्न वर्ग के अलंकार तरकारी, खिचड़ी, चटनी आदि विभिन्न प्रकार के भोजन हैं। अतः इस शैली के आधार पर भी वैज्ञानिक विवेचन उसी को कहा जायगा जिसमें अलंकारों के वर्ग निर्णय कर, प्रत्येक वर्ग के दो-दो एक-

एक अलंकारों को लिया गया हो। इसमे लाभ यह होगा कि अलंकारों के नामों या संख्या की ओर न जाकर यह कहा जा सकेगा कि अमुक कवि ने अलंकार के इतने वर्गों में इतने का प्रयोग किया है। इससे यह भी पता चल सकेगा कि किस वर्ग के अलङ्कार किस कवि को प्रिय हैं। इस आधार पर कवि विशेष का मनोवैज्ञानिक अध्ययन भी सम्भव हो सकेगा।

इस संदर्भ में एक अवांतर विषय की ओर भी ध्यान दिया जा सकता है। हमारे यहाँ अलङ्कारों के वर्गीकरण की समस्या अभी तक अंतिम रूप नहीं पा सकी है। भारतीय साहित्य में अलङ्कारों के वर्गीकरण की ओर सर्वप्रथम अग्निपुराण के अज्ञातनामा रचयिता (जिसे प्रमादवश वेदव्यास कहने की परंपरा चल पड़ी है) का ध्यान गया था और उन्होंने अलङ्कारों के शब्द, अर्थ और उभय (शब्दार्थ) तीन वर्ग बनाए। कहना न होगा कि यह वर्गीकरण गम्भीरता नहीं रखता। इस ओर ध्यान देनेवाले दूसरे आचार्य रुद्रट हैं। इन्होंने वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष के आधार पर चार वर्ग बनाए हैं। अलङ्कारों का यही प्रथम वैज्ञानिक वर्गीकरण है। इसके बाद रुय्यक ने सात वर्ग किये। हिंदी के आचार्यों में केशव ने प्रयास किया पर सफल नहीं हो सके। हाँ, दास ने इस ओर श्लाघ्य प्रयास किया और पाणिनि के अष्टाध्यायी के ढर्रे पर '......आदि गणी' नाम से ११ वर्ग किए। आधुनिक विद्वानों में सुब्रह्मण्य शर्मा ने अलङ्कारों के ८ वर्ग, तथा ब्रजरत्नदास ने ६ वर्ग बनाए हैं। कुछ अन्य विद्वानों ने भी प्रयास किये हैं पर पूर्ण वैज्ञानिक और मान्य वर्गीकरण आज तक सामने नहीं आया। अतः ऐसी परिस्थिति में ऊपर जिस प्रकार के विवेचन की ओर इन पंक्तियों के लेखक ने संकेत किया है, सम्भव नहीं।

किसी कवि के अलङ्कार विवेचन की दूसरी पद्धति भारतीय और पाश्चात्य अलङ्कारों की मिश्रित पद्धति है। डा० नगेन्द्र ने 'सुमित्रानंदन पंत', 'साकेत एक अध्ययन' तथा 'देव और उनकी कविता' में इसी पद्धति

विलास या शब्दरसायन जैसे रीति ग्रन्थ लिखे। इन ग्रन्थों में लक्षण तो उन्होंने अपने ज्ञानानुसार रक्खे पर उदाहरण के लिए कविता करना उनके लिए असम्भव था, फलतः अपनी कविताओं से चुनकर जिस अलङ्कार का जिस छन्द में प्राधान्य था ,उसे उसका उदाहरण मान गठबंधन कर दिया। इसी कारण उनके उदाहरण अलङ्कार शास्त्र के विद्यार्थी के लिए सुबोध नहीं ज्ञात होते, तथा आचार्यों की दृष्टि में अशुद्ध भी लगते हैं। यथार्थतः वे काव्य खंड हैं,शास्त्रीय ग्रन्थ के उदाहरण नहीं हैं। कहने का आशय यह है कि 'आचार्य देव के अलङ्कार निरूपण' पर विचार करने की अपेक्षा 'कवि देव के अलंकरण विधान' पर विचार करना देव की प्रकृति को देखते हुए अधिक न्याय्य होगा। साथ ही इससे यह भी आशय निकलता है कि उनके रीति ग्रन्थों के उदाहरणों को रीति के उदाहरण मानकर छोड़ देना उचित न होगा अपितु उन्हें देव की कविता मानकर इस विषय की परीक्षा का आधार मानना होगा।

अलङ्कारों पर विचार करने के प्रायः दो ढङ्ग प्रचलित हैं। अधिक लोग किसी कवि के अलङ्कार पर विचार करते समय उसकी कविता से हिन्दी (यथार्थतः संस्कृत) के प्रचलित शब्दालङ्कारों, अर्थालङ्कारों तथा उभयालङ्कारों में अधिक प्रसिद्ध अलङ्कारों के उदाहरण चुन लेते हैं और उन्हें उद्धृत करते हुए उनका विवेचन कर देते हैं और अंत में कौन-कौन से अलङ्कार या कितने अलङ्कार की गणना करते हुए निष्कर्ष निकाल देते हैं। यह प्राचीन शैली है। अधिक आलोचना ग्रंथों में इसी शैली का सहारा लिया गया है। इस शैली में वैज्ञानिकता नहीं है। एक चावल देखकर पूरी खिचड़ी पहिचानी जाती है, पर खिचड़ी देखकर तरकारी नहीं पहिचानी जा सकती। यदि अलंकार को भोजन मानें तो विभिन्न वर्ग के अलंकार तरकारी, खिचड़ी, चटनी आदि विभिन्न प्रकार के भोजन हैं। अतः इस शैली के आधार पर भी वैज्ञानिक विवेचन उसी को कहा जायगा जिसमें अलंकारों के वर्ग निर्णय कर, प्रत्येक वर्ग के दो-दो एक-

एक अलंकारों को लिया गया हो। इससे लाभ यह होगा कि अलंकारों के नामों या संख्या की ओर न जाकर यह कहा जा सकेगा कि अमुक कवि ने अलंकार के इतने वर्गों में इतने का प्रयोग किया है। इससे यह भी पता चल सकेगा कि किस वर्ग के अलङ्कार किस कवि को प्रिय हैं। इस आधार पर कवि विशेष का मनोवैज्ञानिक अध्ययन भी सम्भव हो सकेगा।

इस संदर्भ में एक अवांतर विषय की ओर भी ध्यान दिया जा सकता है। हमारे यहाँ अलङ्कारों के वर्गीकरण की समस्या अभी तक अंतिम रूप नहीं पा सकी है। भारतीय साहित्य में अलङ्कारों के वर्गीकरण की ओर सर्वप्रथम अग्निपुराण के अज्ञातनामा रचयिता (जिसे प्रमादवश वेदव्यास कहने की परंपरा चल पड़ी है) का ध्यान गया था और उन्होंने अलङ्कारों के शब्द, अर्थ और उभय (शब्दार्थ) तीन वर्ग बनाए। कहना न होगा कि यह वर्गीकरण गम्भीरता नहीं रखता। इस ओर ध्यान देनेवाले दूसरे आचार्य रुद्रट हैं। इन्होंने वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष के आधार पर चार वर्ग बनाए हैं। अलङ्कारों का यही प्रथम वैज्ञानिक वर्गीकरण है। इसके बाद रुय्यक ने सात वर्ग किये। हिंदी के आचार्यों में केशव ने प्रयास किया पर सफल नहीं हो सके। हाँ, दास ने इस ओर श्लाघ्य प्रयास किया और पाणिनि के अष्टाध्यायी के ढर्रे पर '......आदि गणी' नाम से ११ वर्ग किए। आधुनिक विद्वानों में सुब्रह्मण्य शर्मा ने अलङ्कारों के ८ वर्ग, तथा ब्रजरत्नदास ने ६ वर्ग बनाए हैं। कुछ अन्य विद्वानों ने भी प्रयास किये हैं पर पूर्ण वैज्ञानिक और मान्य वर्गीकरण आज तक सामने नहीं आया। अतः ऐसी परिस्थिति में ऊपर जिस प्रकार के विवेचन की ओर इन पंक्तियों के लेखक ने संकेत किया है, सम्भव नहीं।

किसी कवि के अलङ्कार विवेचन की दूसरी पद्धति भारतीय और पाश्चात्य अलङ्कारों की मिश्रित पद्धति है। डा० नगेन्द्र ने 'सुमित्रानंदन पंत', 'साकेत एक अध्ययन' तथा 'देव और उनकी कविता' में इसी पद्धति

आगे आगे आसपास फैलति विमल वास,
पीछे पीछे भारी भीर भौंरनि के गान की।
ताते अति नीकी किंकिनी की झनकार होति,
मोहनी है मानो मनमोहन के कान की।
जगर मगर होति जोति नव जोबन की,
देखें गति भले मति देव देवतान की।
सामुहें गली के जु अली के संग भली भाँति,
चली जाति देखी वह लली वृषभान की॥

भूषण ने लिखा है—साँचो तैसो बरनिए जैसो जाति-स्वभाव। सचमुच उपर्युक्त छन्द स्वभावोक्ति का साक्षात् प्रतिरूप है।

उपमा सम्भवतः संसार का सबसे पुराना अलङ्कार है। सभ्य से सभ्य और असभ्य से असभ्य सभी इसका प्रयोग करते हैं। उपमा के चार अङ्गों में प्रधान अङ्ग उपमान है। प्रत्येक साहित्य में इसकी रूढ़ियाँ बन गई हैं। संस्कृत की इस प्रकार की कुछ रूढ़ियों को आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिंदी साहित्य की भूमिका में संग्रहीत भी किया है। देव ने भी अपने उपमा अलङ्कारों में प्रायः प्रचलित उपमानों को ही स्थान दिया है—

१. कंज सो आनन खंजन सों दृग याम न रंजन भूलैं न बोऊ।
२. सरद के वारिद मैं इन्दु सो लसत देव सुन्दर बदन चाँदनी सो चारु चीर है।

पर यथार्थता यह है कि ये उपमान इतने घिस गए हैं कि इनमें अभिव्यञ्जना की कोई ख़ास शक्ति नहीं रह गई है। आजकल मूर्त के लिये अमूर्त उपमानों को अच्छा माना जाता है। यों तो यह प्रवृत्ति आधुनिक है और द्विवेदी काल के बाद ही हिंदी में इसका प्रयोग हुआ है,[1]

[1] बिखरी अलकें ज्यों तर्कजाल—प्रसाद।

का अनुसरण किया है। वे अध्ययन में प्राचीन पद्धति की व्यर्थता तथा इस नवीन पद्धति की आवश्यकता बतलाते हुये लिखते हैं—'अब किसी कवि के 'अप्रस्तुत-विधान' की विवेचना करते समय 'कौन अलङ्कार है' अथवा 'कितने अलङ्कार प्रयुक्त हुये हैं ?' यह खोज करना विशेष अर्थ नहीं रखता और वास्तव में इस नाम-परिगणन से काव्य के कलात्मक स्वरूप पर कोई विशेष प्रकाश भी नहीं पड़ता। उसके लिए तो हमें यह जानना चाहिये कि कवि ने भाव के कथन को सप्रभाव बनाने के लिये किस प्रणाली का आश्रय लिया है और उसका मनोवैज्ञानिक आधार क्या है। एक ओर संस्कृत का अलङ्कार शास्त्र है जो अलङ्कार को वस्तु से पूर्णतः स्वतंत्र मानता है और दूसरी ओर क्रोचे का अभि-व्यञ्जनावाद जो अलङ्कार और अंशकार्य की एकान्त अभिन्नता का प्रतिपादन करता है। हमारा मार्ग दोनों का मध्यवर्ती समझना चाहिए।'

यहाँ संक्षेप में उपर्युक्त दोनों पद्धतियों को लेकर विचार किया जायगा। पहले प्राचीन पद्धति लीजिये।

देव ने अलङ्कारों का प्रयोग किया है पर वे अलङ्कारवादी नहीं थे। उनमें विशेष आग्रह रस का मिलता है। इसी कारण उन्होंने स्वभावोक्ति और उपमा अलङ्कार को प्रधानता दी है[1]। इसका आशय यह है कि उन्हें ये दोनों अलङ्कार अधिक प्रिय थे। इन दोनों में भी उन्हें स्वभावोक्ति अधिक प्रिय थी क्योंकि शब्द-रसायन में सर्वप्रथम उन्होंने इसी का विवेचन किया है और इसके बाद उपमा का[2]।

सचमुच स्वभावोक्ति अलङ्कार के उदाहरण इनके ग्रन्थों में भरे पड़े हैं :

---

[1] अलङ्कार में मुख्य है उपमा और स्वभाव।

[2] भाव-विलास में लिखा भी है—प्रथम स्वभाव उक्ति उपमोपमेय......

आगे आगे आसपास फैलति बिमल बास,
पीछे पीछे भारी भीर भौंरनि के गान की।
ताते अति नीकी किंकिनी की झनकार होति,
मोहनी है मानो मनमोहन के कान की।
जगर मगर होति जोति नव जोबन की,
देखें गति भले मति देव देवतान की।
सामुहें गली के जु अली के संग भली भाँति,
चली जाति देखी वह लली वृषभान की॥

भूषण ने लिखा है—साँचो तैसो वरनिए जैसो जाति-स्वभाव;
सचमुच उपर्युक्त छन्द स्वभावोक्ति का साक्षात् प्रतिरूप है।

उपमा सम्भवतः संसार का सबसे पुराना अलङ्कार है। सभ्य से सभ्य और असभ्य से असभ्य सभी इसका प्रयोग करते हैं। उपमा के चार अङ्गों में प्रधान अङ्ग उपमान है। प्रत्येक साहित्य में इसकी रूढ़ियाँ बन गई हैं। संस्कृत की इस प्रकार की कुछ रूढ़ियों को आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिंदी साहित्य की भूमिका में संग्रहीत भी किया है। देव ने भी अपने उपमा अलङ्कारों में प्रायः प्रचलित उपमानों को ही स्थान दिया है—

१. कंज सो आनन खंजन सों दृग याम न रंजन भूलैं न वोऊ।
२. सरद के बारिद मैं इन्दु सो लसत देव सुन्दर वदन चाँदनी सो चारु चीर है।

पर यथार्थता यह है कि ये उपमान इतने घिस गए हैं कि इनमें अभि-व्यञ्जना की कोई ख़ास शक्ति नहीं रह गई है। आजकल मूर्त के लिये अमूर्त उपमानों को अच्छा माना जाता है। यों तो यह प्रवृत्ति आधुनिक है और द्विवेदी काल के बाद ही हिंदी में इसका प्रयोग हुआ है,[1]

---

[1] बिखरी अलकें ज्यों तर्कजाल—प्रसाद।

आयो वसन्त लग्यो बरसाउन, नैननि ते सरिता उमहे री।
कौ लगि जीव छिपावै छपा में, छपाकर की छवि छाइ रहे री॥
चंदन सों छिरकैं छतिया अति, आगि उठै दुख कौन सहै री।
देव जू सीतल मन्द सुगन्ध, सुगन्ध वहों लगि देह दहे री॥

देव यों तो स्वभावोक्ति के पक्षपाती थे पर कहीं कहीं अतिशयोक्ति भी बड़े सुन्दर प्रयोग किए हैं। नायिका का एक चित्र है—

भूपर कमल युग ऊपर कनक खंभ,
ब्रह्म की सी गति मध्य सूक्षमन निदीवर।
तापर अनूप-रूप कूप की तरंगें तहाँ,
श्रीफल युगुल माल, मिलित मिलिन्दीवर।
'देव' तरु बल्ली त्रिबि डोलती सपल्लव,
प्रकास, पुञ्ज तामैं जगमग जोति विंदीवर।
इंदिरा के मंदिर मैं उदित अमंद इन्दु,
आनन उदित इन्दु-मंदिर मैं इंदीवर॥

'उत्प्रेक्षा' रसवादी कवियों का बहुत प्रिय अलङ्कार है। सूर ने शायद इसका सबसे अधिक प्रयोग हिंदी में किया है। यह देव का भी प्रिय अलङ्कार है। एक उदाहरण लीजिए—

कोमलताई लताई सों लीन्हीं लै फूलनि फूलनि ही की सुहाई।
कोकिल की कल बोलनि तोहिं, बिलोकन बाल-मृगीन बताई;
चाल मरालिनि ही सिखई, नख ते सिखई मधु की मधुराई,
जानति हौं ब्रज भूपर आए सबै सिखि रूप की सम्पति पाई।

देव में कहीं कहीं बारीकी भी खूब है। एक सवैया में उन्होंने हार और नन्दकुमार का साथ-साथ वर्णन किया है। श्लेष का कितना सुन्दर उदाहरण है—

ऐसौ गुनी गरे लागत ही न रहै तन मैं सन्ताप री एकौ।
देव महारस बास निवास, बड़ो सुख जा उर बास किये को॥

रूप निधान अनूप विधान, सुप्राननि कौफल जासों जिये कौ ।
साँचेहूँ है सखी नन्दकुमार, कुमार नहीं यह हार हिये कौ ॥

यह देव के अलङ्कार-विधान का संक्षिप्त परिचय है। इन्होंने प्रसिद्ध प्रायः सभी अलङ्कारों के सुरुचिपूर्ण प्रयोग किये हैं।

देव की भाषा में धारा प्रवाहिता तथा वर्णमैत्री सम्बन्धी सौंदर्य हिंदी साहित्य में सबसे अधिक हैं। इसके लिए उन्होंने वीप्सा तथा अनुप्रास इन दो शब्दालंकारों का सहारा लिया है। वीप्सा अलङ्कार वस्तुतः कोई अलङ्कार नहीं है, यह शैली की एक विशेषता है। देव के तो जैसे यह पीछे-पीछे घूमता है, उनकी भाषा का जैसे दास है।

वीप्सा के कुछ सुन्दर उदाहरण हैं—

(क) फलि-फलि फूलि-फूलि फैलि-फैलि झुकि-झुकि,
झपकि-झपकि आई कुंजै चहुँ कोद ते।

(ख) रीझि-रीझि रहसि-रहसि हँसि-हँसि उठै,
साँसे भरि आँसू भरि कहत दई-दई।
चौंकि-चौंकि चकि-चकि उचकि-उचकि देव
जकि-जकि बकि-बकि परत बई-बई।

कहीं-कहीं तो पूरा छन्द वीप्सा से ओतप्रोत है—

धाई खोरि-खोरि ते बधाई पिय आवन की,
सुनि-सुनि कोरि-कोरि भावनि भरति है।
मोरि-मोरि बदन निहारति विहार भूमि,
घोरि-घोरि आनँदघरी-सी उघरति है।
देव कर जोरि-जोरि बंदत सुरन गुरु,
लोगनि के लोरि-लोरि पायन परति है।
तोरि-तोरि माल पूरे मोतिन की चौक,
निवछावरि को छोरि-छोरि भूषन धरति है॥

देव में कहीं-कहीं आवृत्ति शब्दों की न होकर शब्दांशों की होती है।

ऐसी आवृत्ति भी भाषा के प्रवाह को अधिक कर देती है। कुशल-विलास का एक उदाहरण है—

गर्वीनी चुननि लजीली ढीली भौंहनि कै,
ज्यों-ज्यों नई जाति त्यों-त्यों नये नेह नितई।
सीधी बात-बातनि उनीधी गात गातनि,
समीधी पर्यंक में निसंक अंक हितई।
अँसुवन भीजी वीजी सीजी औ पसीजी,
भीजी पीजी सों पतीजी रागरङ्ग रैन रितई।
नाह-नाह सौहैं कै हँसौहैं नेह सोहैं करी,
क्यों हू नाह सो है नाहँसौ हैं नैक चितई॥

इस छन्द में प्रथम पंक्ति में 'ईली' तीन बार, 'अनि' दो बार, दूसरी पंक्ति में 'यों' चार बार, तीसरी तथा चौथी में 'ईधी' तीन बार, 'अनि' दो बार, 'अङ्क' तीन बार, पाँचवीं तथा छठी पंक्ति में 'ईजी' सात बार, सातवीं और आठवीं पंक्ति में 'नह' चार बार और 'सौहैं' पाँच बार आया है।

अनुप्रास और अक्षर-मैत्री के क्षेत्र में तो देव हिंदी के सम्राट हैं। देव के ऐसे अभागे छन्द बहुत कम होंगे जो अनुप्रास और अक्षर मैत्री से श्रीयुक्त न हों। अनुप्रासों में वृत्यानुप्रास ही इन्हें अधिक प्रिय है। कभी-कभी तो पूरे छन्द एक ही प्रकार की आवृत्ति से मंडित मिलते हैं। इतना ही नहीं कभी-कभी अक्षर के स्थान पर देव एक अक्षर समूह या शब्द ले लेते हैं और पूरे छन्द में उसकी आवृत्ति का निर्वाह सफलता के साथ करते हैं। अनुप्रास और अक्षर मैत्री से विभूषित कुछ छन्द तथा छंदांश द्रष्टव्य हैं—

१. फैलि-फैलि फूलि-फूलि, फलि-फलि, हूलि-हूलि,
झपकि-झपकि आई कुंजैं चहुँ कोद ते।
हिल मिलि हेलिनु सौं केलिनु करन गई,
बेलिनु बिलोकि बधू ब्रज की विनोद ते।

मल्ली मलै मालती नेवारी जाती जूही देव,
अंबकुल बकुल कंदबन में हेरती ॥

७. काननि कोननि कूदि फिरै करि सौतिन के उर खेत की खूँदनि ।
देवजू दौरि मिले ठगि ज्यों मृगजे न फँदे फँदवार के फूँदनि ।
घूँघट के घटकी नटिकी भुकुटी लटकी लटकी गुन गूँदनि ।
केहू कहूँ न छुरै बिछुरै बिचरै न चुरै निचुरै जलबूँदनि ॥

८. दूलहै सोहाग दिन तूल है तिहारे-तिन,
तू लहै तियारे सो अयान ही की भूल है ।
भूल है न भाग को, प्रवाह सो दूकूल है,
दुकूल है उज्यारो देव, प्यारो अनुकूल है ।
कूल है नदी को, प्रतिकूल है गुमान री,
अहू लहै सु तौन जौन जोबन अहूल है ।
हूल है हिये में, पलहू लहै न चैन री,
निहारु पल दूल है, बिहारु पल दूल है ॥

९. बैरागिनि कीधौं अनुरागिनि सोहागिनि तू,
देव बड़भागिनि लजाति और लरति क्यों ।
सोवति जगति अरसाति हरखाति अब,
खाति बिलखाति दुख, मानति डरति क्यों ।
चौंकति चकति उचकति औ बकति बिथ-
कति औ थकति ध्यान धीरज धरति क्यों ।
मोहति मुरति सतराति इतराति साह-
चरज सराहि आहचरज मरति क्यों ॥

१०. कोऊ कहौ कुलटा कुलीन अकुलीन कहौ,
कोऊ कहै रंकिनि कलंकिनि कुनारी हौं ।
कैसो परलोक, नरलोक बरलोकन में,
लीन्हो मैं अलीक लोक-लीकन ते न्यारी हौं ।

बीधी-सी बँधी-सी विष बूड़ी-सी विमोहित-सी,
बैठी वह बकति विलोकति बिकानी सी।

२४. हौं भई दूलह, वै दुलही, उलही सुख-बेलि-सी केलि घनेरी।
मैं पहिरो पिय को पियरो, पहिरी उनरी चुनरी चुनि मेरी
'देव' कहा कहौं कौन सुनै री, कहा कहे होत, कथा बहुतेरी।
जे हरि मेरी धरैं पग- जे हरि ते हरि चेरी के रङ्ग रचेरी॥

२५. आक बाक बकति बिथा में बूड़ि बूड़ि जात,
पीकी सुधि आये जी की सुधि खोइ खोइ देति।
कोह भरी कुहुँकि निमोह भरी मोहि मोहि,
छोह भरी छिति पै छली सी रोइ-रोइ देति।
बड़ी-बड़ी बार लगि बड़ी बड़ी आँखिन तैं,
बड़े बड़े अँसुआ हिये में मोइ मोइ देति।
बाल बिन बालम बिकल बैठी बार बार,
बपु में बिषम विष बीज बोइ बोइ देति॥

अब नगेन्द्रजी[1] द्वारा प्रयुक्त भारत और यूरोप के सङ्गम पर स्थित सिद्धांत के आधार पर देव की अप्रस्तुत योजना का सिंहावलोकन किया जा सकता है। अलंकरण या अप्रस्तुत विधान में प्रस्तुत या वर्ण्य को अप्रस्तुत के सहारे प्राय: स्पष्ट करने की प्रवृत्ति रहती है। इसके लिये. प्राय: साम्य का सहारा लिया जाता है। मोटे रूप से किन्हीं दो चीज़ों में साम्य, रूपसम्बन्धी या गुण (धर्म) सम्बन्धी बातों के कारण होता है।

सादृश्य मूलक अप्रस्तुत से किसी वस्तु के स्वरूप को स्पष्ट किया जाता है। देव का प्रिय विषय नायक और नायिका का रूप चित्रण रहा है। उसके लिए उन्होंने प्राय: इसी का सहारा लिया है। इसमें जैसा कि पीछे कहा जा चुका है साधारण श्रेणी के कवि तो प्राय: परंपरागत रूढिबद्ध उपमानों का प्रयोग करते हैं पर प्रतिभाशाली कवि नवीन

---

[1] देव और उनकी कविता पृ० १८२—१८५

उपमान ढूँढते हैं। देव में भी नवीन उपमान हैं। वयः संधि में शिशुता समाप्त होती रहती है और यौवन मुकुलित होता रहता है। देव ने उसे स्पष्ट करने के लिये लिखा है—

त्रैस बराबर दोऊ सुहात सुगोरी को गात प्रभात ज्यों पूनो।

पूर्णिमा के प्रभात में पूर्णचंद्र छिपता रहता है और बाल रवि अपनी मनहर अरुणिमा के साथ उदित होता रहता है। चित्र कितना मनहर है!

सादृश्य मूलक कुछ और नवीन अप्रस्तुत देखने योग्य हैं—

१. बड़े बड़े नैननि सों आँसू भरि भरि ढरि,
गोरो गोरो मुख आजु ओरो से बिलानो जात।

२. चाँदनी सों चारु चीर है।

३. प्रात पयोदन ज्यों अरुनाई दिखाई दई तरुनाई प्रबीनै।

४. चंदन बिंदु मनो दमकैं नख।

दूसरे अप्रस्तुत साधर्म्यमूलक होते हैं। इनकी आवश्यकता गुण की स्पष्टता के लिए होती है। इसमें भी साहित्य-सम्बन्धी रूढ़ियाँ हैं। देव में रूढ़ियों के अतिरिक्त अपने नवीन प्रयोग भी हैं :

१. अद्भुत ऊख सी पियूख सी मधुर बानी।

२. पारद के मोती कैंधों प्यारी के सिथिल गात,
ज्योंही ज्यों बहोरियत त्यौं त्यौं बिथुरत है।

३. माखन सो मन दूध सो जोबन है दधि ते अधिकै उर ईठी।

४. खुले भुजमूलन लता से लहराइयत।

अप्रस्तुत, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, साधर्म्यमूलक तथा सादृश्यमूलक—दो प्रकार के होते हैं, पर इन दोनों के ही दो भेद हो जाते हैं। कभी तो उपमान मूर्त होते हैं जैसे चंद्रमा, कमल, मोती तथा कुन्दपुष्प आदि ; पर कभी ये अमूर्त भी होते हैं जैसे कीर्ति,

विरक्ति, उद्बोधन[1] तथा ग्लानि आदि। साधारणतः कवि मूर्त अप्रस्तुत ही देते हैं पर सफल और उच्च कवि अमूर्त भी देते हैं जो मूर्त की अपेक्षा प्रायः अधिक अभिव्यञ्जक होते हैं। देव में अमूर्त अप्रस्तुत अधिक तो नहीं मिलते पर उनका एकांत अभाव भी नहीं है। कुछ उदाहरण लिए जा सकते हैं—

१. गोरी गरबीली उठी ऊँघत उघारे अङ्ग,
देव पट नील कटि लपटी कपट सी।
२. कुल की सी करनी, कुलीन की सी कोमलता।

पहले में कपट की भाँति लपटना है साथ ही नील वस्त्र को कपट (जिसका रङ्ग काला माना गया है) कहना भी ठीक है। दूसरे में कुल और कुलीन अमूर्त उपमान हैं पर इसका प्रयोग अमूर्त के लिए हुआ है। मूर्त के लिये अमूर्त विधान के शुद्ध उदाहरण भी देव में मिलते हैं।

कैधौं रुचि भूपर अनूप रचि राखे देव।
रूपक समूह द्वै उज्यारे अति ओज के।

यहाँ उरोजों को अति ओज के उज्ज्वल रूपकों का समूह कहा गया है।

कभी कभी अमूर्त या निर्जीव पदार्थों को सजीव मान लेने, उन पर मानवीय गुणों-व्यापारों का आरोप करने या सजीव की भाँति चित्रण करने से भी काव्य का सौंदर्य बढ़ जाता है। यह अंग्रेजी में 'परसानि-फ़िकेशन' नाम से स्वतंत्र अलङ्कार है। अपने यहाँ अलङ्कारों में इसका स्थान नहीं है। कुछ लोगों का विचार है कि अंग्रेज़ी साहित्य से प्रभावित होकर छायावादियों ने सर्वप्रथम इसका प्रयोग किया है; पर यथार्थतः बात यह नहीं है। स्वयं देव में इसके बड़े सुन्दर प्रयोग मिलते हैं। राधिका 'लज्जा' से सम्बोधित करती है— लज्जा! तू चुपके चुपके मेरे और मेरे पति के बीच अंतर डाले रखना चाहती हो। तू

[1] बुरे स्वप्न में वीर आ गया उद्बोधन सा—गुप्त।

सर्वदा मेरे ऊपर क्रोधकर भौंह तरेरे रहती हो। तुझे शर्म भी नहीं आती ! तू मेरी अकाज करने वाली है ! मेरे दुख-सुख की संगिनी होकर भर आँख कृष्ण को देखने तो दे !—

प्रान से प्रानपती सों निरंतर अंतर अंतर पारत हे री,
'देव' कहा कहौ बाहर हू पर बाहेर हू रहौ भौंह तरेरी।
लाज न लागति लाज अहे ! तुहि जानि मैं आजु अकाजिन मेरी।
देखन दै हरि को भरि डीठि घरीकिनि एक सरीकिनि मेरी ॥

देव अपने मन को मानव मानकर कहते हैं—

(क) ऐरे मन मेरे तैं घनेरे दुख दीन्हें, अब
एके वार दै के तोहि मूँदि मारौं एक बार।
(ख) ऐसो जो हौ जानतो कि जैहै तू विषै के संग,
एरे मन मेरे हाथ पाँव तेरे तोरतो।

कभी कभी कवि धर्म के लिये धर्मों का प्रयोग कर शब्द सौंदर्य को बढ़ा देते हैं। भारतीय दृष्टिकोण से यह एक प्रकार की लक्षणा है। आधुनिक कविता में इसके प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक मिलते है। देव में ये प्रयोग हैं तो पर कम हैं। इसका सबसे सुन्दर उदाहरण तो पीछे उद्धृत किया हुआ छंद है जहाँ छहो ऋतुएँ एक छन्द में रक्खी गई हैं। यहाँ शरतपूनो, वसंत तथा शिशिर निशा का प्रयोग सुख-आनन्द (उनके धर्म) के लिए और अमावस, हेमन्त तथा ग्रीष्म का प्रयोग दुख-शोक (इनके धर्म) के लिए हुआ है। छंद इस प्रकार है—

पून्यो प्रकाश उकसि कै सारदी; आसहूपास बसाय अमावस।
दै गए चिंतन सोच-विचार, सु लै गए नींद, छुधा, बल-बावस।
है उत 'देव' बसंत सदा इत हेंउत है हिय कंप महा बस;
लै सिसिरो-निसि दै दिन ग्रीषम, आँखिन राखि गए ऋतु-पावस ॥

इसी अर्थ में एक स्थान पर देव ने और लिखा है—

पावस ते उठि कीजिए चैत, अमावस ते उठि कीजिए पूनो।

'पावस' यहाँ पानी बसाने वाला, 'चैत' उल्लास के समय, 'अमावस' दुख और दैन्य के समय तथा 'पूनो' प्रसन्नता के समय के लिये प्रयुक्त हुआ है।

कुछ शब्द ध्वन्यात्मक या 'अनोमोटोपोइक' होते हैं, जैसे तड़तड़, भड़भड़, पटपट आदि। ये ध्वनि के आधार पर बने होते हैं, अतः इनका अर्थ अपने आप व्यक्त हो जाता है। इनके प्रयोग से भी काव्य का सौंदर्य बढ़ जाता है। अंग्रेज़ी में ऐसे शब्दों का प्रयोग एक अलङ्कार माना गया है और इसे अनोमोटोपोई की संज्ञा दी गई है। वीररस के युद्ध सम्बन्धी वर्णनों में चंदबरदाई तथा भूषण आदि ने इसका प्रयोग किया है। देव ने भी इसका प्रयोग किया है पर वीर रस से इतर रसों में।

वर्षा का एक चित्र है—

सुनि के धुनि चातक मोरनि की चहुँ ओरनि कोकिल कूकनि सों।
अनुराग भरे हरि बागनि में सखि रागति राग अचूकनि सों।
कवि देव घटा उनई जुनई बनभूमि भई दल दूकनि सों।
रँगराती हरी हहराती लता झुकि जाती समीर के झूकनि सों॥

इसमें ध्वन्यात्मक शब्द तो केवल 'कूकनि' और 'हहराती' दो ही हैं फिर भी तरल वर्णों एवं ह्रस्व मात्राओं के प्रभाव से सारा अर्थ स्वतः ध्वनित हो रहा है। इस दृष्टि से देव का सर्वश्रेष्ठ छन्द निम्न है, पर उपर्युक्त छंद जैसा सौंदर्य और अर्थध्वनन इसमें नहीं है—

सहर सहर सोंधो सीतल समीर डोलै,
घहर घहर घन घेरि कै घहरिया।
झहर-झहर झुकि झीनी झरि लायो 'देव'
छहर-छहर छोटी बूंदन छहरिया।
हहर-हहर हँसि-हँसि के हिंडोरे चढ़ी,
थहर-थहर तनु कोमल थहरिया।
फहर-फहर होत पीतम् को पीत पट,
लहर-लहर होत प्यारी की लहरिया॥

इस प्रकार के कुछ और छंदांश भी देखने योग्य हैं—

१. बारि के बुंद चुवैं चिलकैं अलकैं छवि की छलकैं उछली सी।
अंचल झीन झकैं झलकैं पुलकैं कुच कुन्द कदम्ब कली सी॥

२. उचके उचौं हैं कुच झपे झलकत झीनी,
झिलमिली ओढ़नी किनारीदार चीर की।
गुलगुले-गोरे, गोल कोमल कपोल
सुधाबिंदु बोल इंदुमुखी, नासिका ज्यों कीर की।
देव, दुति लहरति छूटे छहरात केस,
बोरी जैसे केसरी, किसोरी कसमीर की॥

३. चहुँ ओर सुंदर सघन बन देखियत,
कुञ्जन में सुनियत गुञ्जन अलीन की।
बंसीवट तट नटनागर नटतु मोमैं,
रास के बिलास की मधुर धुनि बीन की।
भरि रहि भनक बनक ताल ताननि की,
तनक तनक तामैं झनक चुरीन की।

इस प्रकार अलङ्कारवादी न होते हुये भी देव ने सभी प्रकार के अलङ्कारों का अपनी अभिव्यञ्जना को सफल बनाने के लिये प्रयोग किया है। उनकी रसवादिता के कारण ही उनके अलङ्कार अलङ्कार न लगकर स्वाभाविक अभिव्यञ्जना के अङ्ग लगते हैं।

उक्ति वैचित्र्य

"उक्ति वैचित्र्य से यहाँ हमारा अभिप्राय उस बेपर की उड़ान से नहीं है जिसके प्रभाव से कवि लोग जहाँ रवि भी नहीं पहुँचता वहाँ से अपनी उपमा, उत्प्रेक्षा आदि के लिए सामग्री लिया करते हैं। मेरा अभिप्राय कथन के उस अनूठे ढङ्ग से है जो उस कथन की ओर श्रोता ो आकर्षित करता है तथा उसके विषय को और विषयों से कुछ अलग

करके दिखलाता है।"[1] उक्ति वैचित्र्य के कई ढङ्ग हैं। कभी कभी तो लक्षणा व्यञ्जना आदि के सहारे इसे उत्पन्न करते हैं और कभी-कभी काकु, तुल्ययोगिता, एकावली, पर्यायोक्ति तथा सहोक्ति आदि अलङ्कारों के सहारे। आरोह-अवरोह, एक शब्द का बार बार प्रयोग, या पद-संतुलन भी कभी-कभी काम कर देता है। अंग्रेज़ी में उक्ति वैचित्र्य सम्बन्धी कन्डेन्स्ड सेंटेन्स, आक्सीमोरन, एंटीथीसिस, एपिग्रैम तथा क्लाइमैक्स आदि स्वतंत्र अलङ्कार ही हैं।

उक्ति वैचित्र्य के प्रयोग प्रायः सभी काल के कवियों में मिलते हैं। र, तुलसी, केशव, देव, बिहारी तथा घनानन्द आदि में इसकी विशेष ष्टा दिखलाई पड़ती है। देव के उक्ति वैचित्र्य कई प्रकार के हैं। इनमें वसे अधिक प्रयोग तो एक शब्द के कई बार प्रयोग के मिलते हैं। सके भी दो भेद किये जा सकते हैं। कहीं कहीं तो शब्द बिलकुल एक हता है, जैसे

काहे को मेरो कहावतु मेरो जु पै मन मेरो न मेरो कह्यो करै।

या

लाल भले हौ भले मुख दीनों भली भई आजु भले बनि आये।

इसका दूसरा रूप उन पंक्तियों में दिखाई पड़ता है जहाँ व्यञ्जन तो क ही रहते हैं पर स्वरों की भिन्नता रहती है। पहले की अपेक्षा इसमें ाकर्षण कम रहता है—

हेरि इतै हरिनी नयना हरि हेरत हेरि हरैं हँसि दीनो।

उपर्युक्त तीनों ही उदाहरणों में विचित्रता अर्थ की अपेक्षा ध्वनि ं अधिक है अतः इस श्रेणी की विचित्रताओं को निम्न श्रेणी की हह सकते हैं।

देव में पद संतुलन के आधार पर भी विचित्रता मिलती है। पद-ंतुलन के कई प्रकार हो सकते हैं:

---

[1] गोस्वामी तुलसीदास—रामचंद्र शुक्ल

१. साम्य के आधार पर—

(क) मोह मोह मोहन को मन भयो राधामय,
राधा मन मोहि मोहि मोहन मई मई।

(ख) कुलकानि की गाँठि ते छूट्यो हियो,
हिय तें कुलकानि की गाँठि छुटी।

(ग) गई तौ हती दधि बेचन बीर,
गयो हियरा हरि हाथ बिकाई।

(घ) काहू के रंग रँगे दृग रावरे, रावरे रंग रँगे दृग मेरे।

२. वैषम्य के आधार पर—

(क) है अभिमान तजे सनमान।

(ख) पैए असीस लचैए जो सीस,
लची रहिए तब ऊँची कहैए।

(ग) कंम्पत हियो, न हियो कम्पत हमारो।

(घ) एकहि देव दुदेह दुदेहरे देव दुधा एक देह दुहूमें।

३. आरोह के आधार पर—

(क) रसनि सार सिंगार रस, प्रेम सार सिंगार।

(ख) बानी को सार बखान्यो सिंगार सिंगार को सार किसोर किसोरी।

(ग) जीव सो जीवन, जीवन सो धन।

इसी प्रकार अवरोह और अनुक्रम आदि से भी पदसन्तुलन उपस्थित किया जा सकता है। ऊपर कहा जा चुका है कि कुछ अपने अलंकारों से भी उक्तिवैचित्र्य लाया जा सकता है। यह कार्य उन्हीं अलङ्कारों में संभव है जो मुख्यतः अलङ्कार न होकर शैली या कहने के ढंग से संबंधित हैं। देव से कुछ उदाहरण लिए जा सकते हैं :

(क) सँजोगिन की तु हरै उर पीर, बियोगिन के सुधरै उर पीर।

(ख) इंदु उदै उदयौ उर धाम सुकामु जग्यो सङ्ग जामिन जागे।

(ग) टूटि गयो एक बार विदेह महीप को सोच सरासन संभुको।

देव में इस प्रकार की उक्तिवैचित्र्य-पूर्ण पंक्तियों की संख्या काफ़ी बड़ी है।

यहाँ एक बात का स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक होगा। इस उक्ति-वैचित्र्य से देव चमत्कारवादी नहीं कहे जा सकते। यह चमत्कार केशव की कोटि का नहीं है, जो रसविरोधी होता है, अपितु यह रस का सहायक होता है। हिंदी के सबसे बड़े कवि तुलसीदास में भी इस प्रकार के उक्तिवैचित्र्यपूर्ण वाक्य बहुत अधिक हैं जिनकी प्रसंशा आचार्य शुक्ल ने गोस्वामी तुलसीदास में एक अलग अध्याय में की है।

गुण

यों तो कविता का सारा सौंदर्य ही गुण नाम के अन्तर्गत आता है पर आचार्यों की विशिष्ट भाषा में 'गुण' शब्द का प्रयोग कुछ विशिष्ट गुणों के लिए ही होता है। पोद्धार जी के शब्दों में 'जो रस के धर्म, उसके उत्कर्ष के कारण और अचल स्थिति होते हैं वे गुण कहे जाते हैं।' देव ने गुण को रीति कहा है, इस सम्बन्ध में पीछे आचार्य देव के प्रकरण में विचार हो चुका है।

देव का कवि के रूप में अनेक न्यूनताओं तथा त्रुटियों के होते हुए भी काफ़ी ऊँचा स्थान है, अतः उनकी कविता गुणों से ओतप्रोत है। यों तो गुण की संख्या के विषय में पर्याप्त विवाद रहा है पर अब प्रधानतः माधुर्य, प्रसाद और ओज ये तीन ही गुण माने जाते हैं।

शृंगार प्रिय कवियों का विषय स्वतः माधुरी से ओतप्रोत रहता है, अतः उनमें माधुर्य गुण का होना अत्यन्त स्वाभाविक है। विशेषतः देव में तो माधुर्य गुण कूट-कूटकर भरा है। उन्हें तो इस गुण से इतना प्रेम था कि इसके लिए शब्दों की तोड़-मरोड़, व्याकरण के नियमों का उल्लंघन, नए शब्दों का बनाना, अप्रचलित शब्दों के प्रयोग आदि सभी कुछ स्वीकार था।

माधुर्य गुण में टवर्ग का प्रयोग, समासों का प्रयोग तथा अधिक

द्राविड़ी प्राणायाम कराने वाले संयुक्त वर्णों का प्रयोग वर्जित है, दूसरी ओर तरल वर्णों तथा ङ ञ, न म के संयुक्त अक्षरों का प्रयोग (रञ्जन, कान्त, कम्पन आदि) सुन्दर माना जाता है। देव के कुछ उदाहरण देखने योग्य हैं—

कूल चली जल केलि के कामिनि भावते के सङ्ग भाँति-भली सी
भीजे दुकूल में देह लसै, कवि देव जू चंपक चारु दली सी
वारि के बूँदै चुवैं चिलकैं, अलकैं छवि की छलकैं उछली सी
अंचल झीन झकैं झलकैं पुलकैं कुच कंद कदम्ब कली सी।

इसमें टवर्ग का एक भी अक्षर नहीं है तथा तरल अक्षर 'ल' का भी बहुत प्रयोग है। 'स' अक्षर का प्रयोग भी कभी-कभी विचित्र मधुरता ला देता है—

१. सोहै सलोनी सुहाग भरी, सुकुमारि सखीनि समाज मढ़ी सी।
२. स्यामा की स्याम की नाम सखीनि सुनायो सुनावत कीन्हों कछू उन।
३. सलज सुसील सीलताई की सलाका सैल,
सुनाते सलोनी बैन बीना के भनक के।

प्रसाद गुण के विषय में आचार्यों ने लिखा है—सूखे ईंधन में अग्नि की तरह अथवा स्वच्छ वस्त्र में जल की तरह जो गुण चित्त में तत्काल व्याप्त हो जाता है वह प्रसाद गुण है। आशय यह है कि कविता इतनी सरल और सुबोध हो कि अर्थ के स्पष्ट होते देर न लगे। देव रसवादी होने के कारण प्रसाद गुण के भी प्रेमी और भक्त थे। अभिधा को उत्तम काव्य एवं स्वभावोक्ति को श्रेष्ठ अलङ्कार मानना—ये दोनों बातें इसी ओर संकेत करती हैं। पर, अनुप्रास तथा माधुर्य के फेर में पड़कर कम छन्दों में उन्होंने अपने इस विचार को कार्यरूप में परिणत किया है। आचार्य शुक्ल तथा दीन जी ने इन पर प्रसाद गुण के अभाव का दोषारोपण किया है। बात ठीक है, पर प्रसाद गुण के छन्दों का देव में एकांत अभाव नहीं है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा :

गूजरी ऊजरे जोबन को कछु मोल कहा दधि को तब देहीं।
देव इतौ इतराहु नहीं, ए नाहीं मृदु बोलन मोल बिकैहौं।
मोल कहा अनमोल बिकाहुगी एँच जबै अधरा रसु लैहौं।
ऐसी कही फिरि तौ कही कान्ह ? अबै कछु हौंहु कका की सौं कैहौं।

ओज रीतिकाल में भूषण आदि वीर रस के कवियों में ही विशेषतः दिखाई पड़ता है। देव आदि शृङ्गार रस के कवियों में इसका अभाव स्वाभाविक है। फिर भी खोजने पर एकाध उदाहरण मिल ही सकते हैं—

ईठ रस बालन बसीठ बस करिबे को,
ढीठ मधुकर जग-जगत चाखन चोर।
उबट लुटाऊ, बर पाइन बटाऊ पट,
लपट लुटाऊ नट कपट माखन चोर।

ओज में टवर्ग तथा संयुक्त वर्णों का प्रयोग रहता है। यहाँ संयुक्त वर्ण तो नहीं हैं पर टवर्ग अवश्य है। एक और उदाहरण देखा जा सकता है—

अरे कुबुद्धि रावण प्रचण्ड युद्ध धांवण,
प्रकोपि राम-पावन प्रिया हरी।
अखंड मुंड खंड-खंड तुंड-तुंड झुंड-झुंड,
पात जात घोर कुंड पाधरी।

अन्त में कहा जा सकता है कि देव में माधुर्य गुण तो प्रभूत मात्रा में है, प्रसाद उससे कम है और ओज तो शायद दाल में नमक के बराबर है या उससे भी कुछ कम।

दोष

जिन बातों से काव्य के गुण में कमी हो जाती है, उन्हें दोष कहते हैं। दोष, पद दोष, पदांश दोष, वाक्य-दोष, अर्थ दोष और रस दोष, ये पाँच प्रकार के कहे गए हैं। फिर इनके लगभग ७० भेद-विभेद किए गए हैं। पीछे आचार्य देव पर विचार करते समय कहा जा चुका है

कि इन्होंने दोषों का वर्णन अत्यन्त संक्षेप में किया है, पर इनके काव्य में दोषों के उदाहरण पर्याप्त हैं, या दूसरे शब्दों में इनके काव्य में दोष हैं और सम्भवतः बहुत अधिक हैं। यहाँ कुछ प्रधान दोष देखे जा सकते हैं।

'च्युत संस्कार' दोष व्याकरण विरुद्ध प्रयोगों में माना जाता है। देव की भाषा पर विचार करते समय हम लोग देख चुके हैं कि देव की भाषा में यह दोष बहुत अधिक है। विशेषतः लिंग और वचन सम्बन्धी अशुद्धियाँ बहुत हैं।

'अप्रयुक्त दोष' ऐसे शब्दों के ऐसे अर्थ में प्रयोग करने में माना जाता है जो कोषादि में वह विशिष्ट अर्थ रखते हों पर उस अर्थ में अप्रयुक्त हों। देव ने एक स्थान पर लिखा है—

बिना बेंदी बंदन बदन-सोभा बिकसी।

यहाँ 'बंदन' शब्द ईंगुर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है अतः अप्रयुक्त दोष है।

जहाँ पंक्तियों या छन्दों के अन्वय करने में कठिनाई पड़े, अन्वय दोष होता है। देव में यह दोष अधिक है। एक उदाहरण लिया जा सकता है—

कैसी लाज कैसो काज कैसो धौं सगो समाज,
कैसो घर कैसो वर कैसो डर कैसी कानि।

यहाँ 'धौं' व्यर्थ में पूर्ति मात्र के लिए है।

देव के दोषों की संख्या बहुत बड़ी है। यहाँ सब को लेना तथा उदाहृत करना सम्भव नहीं। देव में मिलने वाले अन्य प्रमुख दोष असमर्थ, संदिग्ध, क्लिष्ट तथा वर्जित पद आदि हैं।

(च) छन्द

रीतिकाल के पूर्व हिंदी साहित्य में पद, दोहा, चौपाई, सोरठा, घनाक्षरी, बरवै, सवैया, छप्पय, रोला तथा कुंडलिया आदि प्रधान छन्द थे। इन ९ में से रीतिकाल में प्रधानता तो केवल सवैया और घनाक्षरी इन दो ही छन्दों को मिली पर दोहा तथा सोरठा आदि भी पर्याप्त प्रचलित हैं। देव के प्रधान छन्द भी इनमें ही तीन—सवैया, घनाक्षरी तथा दोहे हैं। इन तीनों में भी उनका प्रतिनिधि साहित्य सवैया तथा घनाक्षरी में ही है। दोहों में लक्षण ही अधिक दिये गये हैं।

शब्द रसायन में देव ने पिंगल प्रकरण भी दिया है जिसमें बहुत से अन्य छन्दों के लक्षण तथा उदाहरण हैं। पीछे आचार्य देव खंड में पिङ्गल पर विचार करते समय इस प्रकरण पर विचार किया जा चुका है। अब उनके प्रधान छंदों को लीजिए।

सवैया एक वर्ण वृत्त है। देव ने इसके १२ भेद[1] किये हैं और बारहों का उपयोग भी किया है। लय की दृष्टि से सवैया के तीन भेद होते हैं। पहले प्रकार की सवैया सगण पर आधारित रहती है अर्थात् लघु-लघु और गुरु (।।ऽ) के गण इसमें आते हैं। इसका शुद्ध रूप चंद्रकला (जिसे दुर्मिल भी कहते हैं।) में मिलता है। इसमें ८ सगण होते हैं। देव से एक उदाहरण लीजिए—

---

[1] पीछे देखिये 'पिंगल' प्रकरण

मुनि देव अनूप कला अजभूप की रूपकला अकुलान लगी।
पहिचानन प्रीति अचान लगी, लखिबे को कछू ललचान लगी।
धरि भाइक भौंहै कमान चढ़ाइ कै, तानन लोचन बान लगी।
कहुँ कान्ह कहानी सी कान लगी, तब ते तन प्रान बिकान लगी।

इसमें दो लघु के बाद गुरु आने से प्रवाह सबसे अधिक होता है। सुन्दरी (८ सगण + गुरु) तथा कुन्दलता (८ सगण + २ लघु) आदि भी इसी लय के हैं। दूसरे प्रकार के सवैये वे होते हैं जिनमें गुरु अंत में न आकर बीच में आते हैं। ऐसे गण को जगण (।ऽ।) कहते हैं। जगण पर आधारित सवैयों में सगण पर आधारित सवैयों की अपेक्षा गति में मंथरता रहती है। इसका शुद्ध रूप मुक्तहरा में मिलता है जिसमें आठ जगण होते हैं। देव से एक उदाहरण देखा जा सकता है—

पगी पिय प्रेम जगी चहुँ जाम, रँगी रति रङ्ग भयो परभात।
छक्यो न वियोग लियो भरि भोग, पियो रस ओघ हियो न अघात।
सगात लै लै बहुभाँतिन सों, छिरकै छतियाँ तन त्यौं न अमात।
तऊ रँग ना रँग केसरि को, अङ्ग धोवत सो रँगबाहत जात॥

[illegible] (८ जगण + लघु) तथा माधवी (७ जगण + यगण) में भी यही गति होती है।

तीसरे प्रकार के सवैयों में गुरु आरम्भ में आ जाता है। इसके सवैये भगण (ऽ।।) पर आधारित होते हैं। इनकी गति सबसे धीमी होती है। इसका शुद्ध रूप किरीट में मिलता है। देव का एक किरीट देखिए—

देव ने तीनों ही प्रकार के सवैयों के प्रयोग किए हैं। पर, रीति-कालीन अन्य कवियों की भाँति अपनी गति की मस्ती के कारण मत्तगयंद ही देव को अधिक प्रिय है। अतः कहना अनुचित न होगा कि देव के सवैयों का प्रतिनिधि मत्तगयंद है। इनमें सात भगण और दो गुरु होते हैं। देव का एक उदाहरण लीजिए—

ता दिन तें अति व्याकुल है तिय जा दिन ते पिय पंथ सिधारे।
भूख न प्यास बिना ब्रजभूषन, भामिनि भूषन भेष बिसारे।
पावत पीर नहीं 'कवि देव' कलोंरिक मूरि सबै करि हारे।
नारि निहारि निहारि चले तजि बैद बिचारि बिचारि बिचारे॥

उपर्युक्त तीन प्रकार के सवैयों के मेल से देव ने अपने बारह उपभेद किए हैं।

रीति काल का दूसरा प्रिय छन्द घनाक्षरी या कवित्त भी सवैया की भाँति ही वर्णवृत्त है, पर सवैयों की भाँति यह गणों से बँधा नहीं है, इसी से इसे मुक्तक भी कहते हैं। सवैया की अपेक्षा यह नवीन छंद है। इसमें ३१ या ३२ वर्ण होते हैं और ८,८,८, ७ या ८, ८, ८ और ८ पर प्रायः यति पड़ती है। कभी-कभी इस नियम का उल्लंघन भी हो जाता है। ३१ वर्ण की घनाक्षरी मनहर कहलाती है। इसमें ८+८+८+६ तथा एक गुरु होता है। ३२ वर्ण की घनाक्षरी रूप घनाक्षरी कहलाती है। मनहर के विरुद्ध इसमें अंत में लघु होता है। देव ने विशेषतः मनहर को ही अपनाया है।

इन दो के अतिरिक्त देव ने एक ३३ अक्षरों की घनाक्षरी भी लिखी है जो उन्हीं के नाम से देव घनाक्षरी कही जाती है। इसमें यति ८, ८, ८, ६ पर होती है। यह घनाक्षरी पढ़ने की असुविधा के कारण कवियों द्वारा अपनाई न जा सकी। रत्नाकर ने अपने घनाक्षरी [illegible] में इसकी ओर से अपना उपेक्षा भाव दिखलाया है। [illegible] छंद सुभीते का नहीं है; इसी कारण प्रचलन नहीं पा स[illegible]

भी देव का क्षेत्र प्रायः अलग-सा है ; यद्यपि स्वयं देव की कविता में भी देव शतक या देव माया प्रपंच आदि में भक्ति की भावना मिलती है तथा दूसरी ओर विद्यापति, कबीर तथा सूर तीनों में प्रेम और विद्यापति और सूर विशेषतः विद्यापति में तो घोर शृङ्गार भी मिलता है। शेष कवियों में मतिराम और पद्माकर दोनों ही काव्य क्षेत्र की विस्तीर्णता, भाव गाम्भीर्य, अनुभूति की गहराई, भाषा की चित्रात्मकता तथा सरसता एवं रसार्द्रता आदि की दृष्टि से देव से नीची श्रेणी के ठहरते हैं। इस प्रकार बिहारी ही एक मैदान में रह जाते हैं।

बिहारी और देव का तुलनात्मक अध्ययन सूर और तुलसी की भाँति काफी पहले से होता आ रहा है। द्विवेदी काल में इन दोनों में एक को श्रेष्ठ सिद्ध करने के विवाद को लेकर अखाड़े में बहुत से लेख और पुस्तकें आई। इसका प्रारम्भ मिश्र बन्धुओं के हिन्दी नवरत्न से हुआ जिसमें देव हिंदी के सबसे बड़े कवि कहे गए थे।[1] इसके बाद पद्मसिंह शर्मा की पुस्तक सामने आई जिसमें मिश्र बन्धुओं द्वारा बिहारी पर लगाए गए आरोपों का—जिन्हें शुक्लजी ने निरर्थक कहा है—खंडन किया गया था। इस पुस्तक से देव बिहारी का 'भद्दा झगड़ा' और आगे बढ़ा। श्री कृष्ण बिहारी मिश्र की 'देव और बिहारी' तथा लाला भगवानदीन की 'बिहारी और देव' में यह झगड़ा अपनी सीमा पर पहुँचा और फिर दैवयोग से वहीं रुक भी गया। इस विवाद से एक यह लाभ अवश्य हुआ कि देव और बिहारी की सारी अच्छाइयाँ और बुराइयाँ सामने आ गई।

अब यहाँ संक्षेप में दोनों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकता है।

१. देव और बिहारी दोनों ही एक काल—रीतिकाल के कवि हैं. अतः दोनों की सांस्कृतिक और सामाजिक पृष्ठभूमि एक ही है।

---

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास—शुक्ल (१९९९), पृ० ५८५

२. देव और बिहारी की जीवन-परिस्थितियों में बहुत बड़ा अंतर है। बिहारी निश्चिंतता के साथ एक राज्याश्रय में रहे और उन्हें शायद खाने-पीने का कष्ट कभी भी न रहा, पर दूसरी ओर देव जीवन के आरम्भ से अंत तक रुपए के लिये परेशान रहे। उन्हें ऐसा कोई एक आश्रयदाता न मिल सका, जिसके आश्रय में निश्चिंत होकर वे साहित्य-साधना कर पाते। इसका दोनों की रचनाओं पर भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा। बिहारी को जीविका के लिए अर्थ लाभ की आवश्यकता थी नहीं, अतः उन्होंने निश्चितता के साथ जब इच्छा हुई कविता लिखी। इसी कारण एक तो उनकी कविताएँ बहुत कम हैं (एक ग्रंथ या ७०० से कुछ अधिक छन्द) और दूसरे सभी कटी-छँटी और उच्चस्तर की हैं। दूसरी ओर देव को पेट के लिए अनेक आश्रयदाताओं की शरण खोजनी पड़ी और उन सभी को प्रसन्न करने के लिए उन्हें अलग-अलग ग्रन्थ लिखने पड़े। इसके तीन परिणाम हुए। एक तो उन्हें बहुत अधिक लिखना पड़ा,[१] दूसरे जब अपनी बड़ी आवश्यकता की पूर्ति नवीन छन्दों से न कर सके तो कुछ नवीन छन्द लिखकर कुछ प्राचीन छन्द जोड़ नवीन ग्रन्थ प्रस्तुत करने की निंद्य पद्धति उन्हें अपनानी पड़ी, और तीसरे उनके सभी छन्द उच्च श्रेणी के नहीं हो सके। आखिर काव्य सृजन यांत्रिक रूप से तो किया नहीं जा सकता! हाँ यह बात अवश्य है कि बिहारी में प्रथम श्रेणी के छन्दों की जो संख्या होगी उससे कम संख्या देव के प्रथम श्रेणी के छन्दों की न होगी। हाँ बिहारी का यदि ६० प्रतिशत प्रथम श्रेणी का है तो देव का २५ प्रतिशत।

३. देव के काव्य की आत्मा रस है तो बिहारी के काव्य की आत्मा चमत्कार। उनका चमत्कार कहीं-कहीं रस की निष्पत्ति में भी बाधक

---

[१] जनश्रुति के अनुसार तो उन्होंने ७२ या ५२ ग्रन्थ लिखे, पर यदि इसे सत्य न भी मानें जैसा कि पीछे सिद्ध किया जा चुका है तो कम से कम १६ ग्रन्थ तो उनके उपलब्ध हैं ही।

हुआ है। रसार्द्रता की दृष्टि से पूरे रीतिकाल में देव का स्थान अन्यतम है।

४. रस की दृष्टि से दोनों ने शृङ्गार को प्रधानता दी है पर देव में अन्य रस भी मिलते हैं। विहारी में हास्य अद्भुत आदि कुछ ही अन्य रस हैं।

५. विहारी की दृष्टि अपेक्षाकृत वस्तुपरक अधिक है पर देव की भावपरक है।

६. प्रकृति चित्रण दोनों में है पर देव में चित्रात्मकता चरम सीमा पर है अतः उनके प्रकृति-चित्रण विहारी से अधिक सजीव हैं। साथ ही उनके अपेक्षाकृत अधिक मुक्त भी हैं।

७. दोनों ही के काव्य तत्कालीन जनता के हृदय से दूर हैं। उनमें उच्चवर्ग के भोग-विलास और तत्सम्बन्धी रङ्गीन एवं चकाचौंधपूर्ण वातावरण के ही अधिक चित्र हैं।

८. विहारी और देव दोनों की शैलियां में महान् अंतर है। विहारी ने गागर में सागर भरा है। उनकी शैली सूत्र या समास शैली का उत्कृष्ट उदाहरण है। एक-एक शब्द सोच समझकर रखे गए हैं। पर, दूसरी ओर देव की शैली व्यास या पुराण शैली है। शब्द व्यय बहुत अधिक है। दो चार शब्द छन्द से निकाल लीजिए फिर भी अर्थ में कोई खास गड़बड़ी न होगी।

विहारी की कला देव से अधिक जागरूक और सचेष्ट है। लाक्षणिकता ओर सूक्ष्मता विहारी में अपनी सीमा पर हैं पर देव में यह चीज़ प्रायः दुर्लभ ही है।

९. दोनों महाकवियों की भाषा व्रज है पर साथ ही अन्य प्रादेशिक बोलियों के भी रूप दोनों में हैं।

व्याकरण की दृष्टि से विहारी की अपेक्षा देव की भाषा में स्खलन अधिक हैं।

दोनों में हिंदी शब्दों के अतिरिक्त संस्कृत, प्राकृत, अरबी, फ़ारसी

घनाक्षरी है ।

१२. बिहारी का प्रिय अलंकार अतिशयोक्ति है पर देव में स्वभावोक्ति की अधिकता है ।

१३. देव के बहुत से ग्रन्थ हैं पर बिहारी का केवल एक ग्रन्थ सतसई है ।

१४. बिहारी केवल कवि हैं पर देव कवि होने के साथ-साथ आचार्य भी हैं । साथ ही यदि केवल कविता की भी बात लें तो देव का काव्य-क्षेत्र बिहारी की अपेक्षा अधिक विस्तृत है ।

अंत में उपर्युक्त बातें यदि संक्षेप में कहना चाहें तो बिहारी देव की तुलना में अधिक सफल शिल्पी और शैलीकार हैं पर दूसरी ओर रस-वादिता (जो काव्य की आत्मा है), भाव भूमि की विस्तीर्णता, झंकृति और संगीत, छन्दबहुलता एवं ग्रंथाधिक्य की दृष्टि से देव बिहारी से बहुत आगे हैं । इस प्रकार निश्चय ही देव बिहारी से बड़े हैं ।

जहाँ तक पूरे हिंदी साहित्य में देव के स्थान का प्रश्न है वे मुक्तक